साहित्य

चतुरसेन शास्त्री

विजयेन्द्र स्नातक

H
813.2
C 392 S

भारतीय
साहित्य के
निर्माता

H
813.2
C 392 S

चतुरसेन शास्त्री

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोधन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है; भारत में लेखन-कला का यह संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली।

भारतीय साहित्य के निर्माता

चतुरसेन शास्त्री

लेखक

विजयेन्द्र स्नातक

साहित्य अकादेमी

Chatursen Shastri: A monograph in Hindi by Dr. Vijayendra Snatak on modern Hindi author. Sahitya Akademi (1994), Rs. 15.

© साहित्य अकादेमी

Library IIAS, Shimla
H 813.2 C 392 S
00094861

प्रथम संस्करण : 1994

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304 & 305 अन्ना सालई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग,
दादर, बम्बई 400 014
ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे.सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

H
813.2
C 392 S

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ISBN 81-7201-713-8

Indian Institute of Advanced Study
Acc. No. 94861
Date. 13/3/2000

लेजर-सैट : कर्सर कम्प्यूटर डाटा सर्विसेज, नई दिल्ली-110014
मुद्रक : सोनी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

दो शब्द

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का हिन्दी भाषा और साहित्य के उन्नयन में विशिष्ट स्थान है। जीविकोपार्जन के लिए प्रारंभ में शास्त्री जी ने आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति को स्वीकार कर यथेष्ठ धन और यश अर्जित किया था किन्तु उनके मन में बैठा हुआ सर्जक साहित्यकार उन्हें युवावस्था से ही शाब्दिक अभिव्यक्ति की प्रेरणा देता रहता था। चिकित्सा की दैनिक चर्या के बाद रात्रि के निस्तब्ध क्षणों में वे साहित्यिक संवेदनाओं को प्रकट करने के लिए कुछ न कुछ लिखते रहते थे। फलतः अपने अड़सठ वर्ष के जीवन में उन्होंने विविध विषयों की छोटी-बड़ी लगभग पौने दो सौ पुस्तकें लिखीं। उनके सर्जनात्मक साहित्य में मानव-महत्व की प्रतिष्ठा है। साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं में रचना द्वारा उन्होंने बीसवीं शती के प्रथम दो चरणों में जो स्थान बनाया, वैसा बहुआयामी साहित्यिक स्थान हिन्दी में बहुत कम साहित्यकारों का है। कहानी, उपन्यास, नाटक, गद्यकाव्य, इतिहास, संस्कृति, राजनीति, धर्म आदि विषयों पर लिखे उनके ग्रंथ हिन्दी साहित्य के गौरव ग्रंथ हैं। उनकी शैली प्रौढ़, प्रांजल और अभिव्यंजना सौष्ठव से परिपूर्ण होने के साथ चिन्ताकर्षक और मोहक है।

इस पुस्तिका में हमने आचार्य श्री के साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का संक्षेप में परिचय देने का प्रयास किया है। हमारा लक्ष्य उनके सर्जनात्मक साहित्य को केन्द्र में रखते हुए उन विषयों की ओर भी रहा है जो शास्त्री जी के साहित्येतर लेखन क्षेत्र में आते हैं। हमें विश्वास है कि हमारे इस प्रयास से एक लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार का सर्वांगीण प्रदेय उद्घाटित हो सकेगा।

विजयेन्द्र स्नातक

विषय-सूची

दो शब्द	v
प्रथम अध्याय	1
द्वितीय अध्याय	12
तृतीय अध्याय	31
चतुर्थ अध्याय	35
पंचम अध्याय	52
परिशिष्ट-I	54
परिशिष्ट-II	64

प्रथम अध्याय

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का स्थान उनकी बहुआयामी प्रतिभा के कारण अप्रतिम है। पिछले सौ वर्ष के इतिहास में हिन्दी साहित्य जगत् में ऐसा कोई दूसरा लेखक उत्पन्न नहीं हुआ जिसने साहित्य की सभी विधाओं पर कलम चलाते हुए साहित्येतर एक दर्जन विषयों पर अपनी छाप छोड़ी हो। साहित्येतर से मेरा प्रयोजन आयुर्वेद, राजनीति, धर्मशास्त्र, कामकला, शिक्षा शास्त्र, भारतीय विद्या, इतिहास, संस्कृति, खग्रास, पाकशास्त्र आदि से है। हिन्दी के किसी दूसरे साहित्यकार का ध्यान इन विषयों की ओर नहीं गया। इसीलिए उनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या लगभग पौने दो सौ (175) हैं। यदि शास्त्री जी अपने को साहित्य की स्वीकृत विधाओं तक ही सीमित रखते तो उनके ग्रंथों की इतनी विपुल संख्या नहीं होती।

प्रारम्भ में उन्होंने अध्ययन और जीविकोपार्जन के लिए आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा शास्त्र को स्वीकार किया था और लम्बे अरसे तक चिकित्सा के माध्यम से जीविकोपार्जन भी किया, किन्तु उनके अभ्यन्तर में बैठा हुआ सर्जक साहित्यकार चिकित्सा के क्षणों में भी उन्हें सर्जन की प्रेरणा देता रहता था। फलतः वे अपने मूल चिकित्सा क्षेत्र से हटकर स्वतन्त्र लेखन (फ्री लांसिंग) के क्षेत्र में आ गए।

इस क्षेत्र परिवर्तन की लम्बी और रोमांचक कहानी उन्होंने अपनी आत्मकथा में विस्तारपूर्वक लिखी है। यह आश्चर्य का विषय है कि चतुरसेन शास्त्री का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उस महत्व के साथ अंकित नहीं है जैसा कि उनकी लेखन की गुणवत्ता के आधार पर होना चाहिए था।

आचार्य चतुरसेन के ग्रंथों की बड़ी संख्या ही चौंकाने वाली नहीं है वरन् गुणात्मक निष्कर्ष पर भी उनका साहित्य उच्चस्तरीय हैं कभी-कभी ऐसा भी होता है किसी महान साहित्यकार के कृतित्व का अपने युग में सही मूल्यांकन नहीं होता। उचित मूल्यांकन के अभाव में स्वयं साहित्यकार को भी बोध और क्षोभ रहता है, किन्तु मूल्यांकन की कसौटी दूसरों (आलोचकों) के हाथ में होती है। फलतः साहित्यकार सही मूल्यांकन के अभाव में कसमसाता तो रहता है किन्तु निर्बधि काल तथा विपुला पृथ्वी को दृष्टि में रखकर समान धर्मा समीक्षक की आशा में मौन रहकर सहता और भोगता है। चतुरसेन शास्त्री इसी कोटि के रचनाकार थे।

उन्होंने अपने जीवनकाल में आलोचकों द्वारा की गयी इस उपेक्षा को चुपचाप भोगा किन्तु अपने स्वाभिमान को सुरक्षित बनाए रखा। चतुरसेन के समकालीन आलोचकों ने उनके उपन्यास साहित्य को किशोर मन को गुदगुदाने वाला साहित्य ठहराया और उनकी शैली-शिल्प को भी संकीर्ण मानकर उन्हें वह स्थान नहीं दिया जो वस्तुतः उन्हें मिलना चाहिए था। इसका एक कारण विषय विस्तार भी है जिसने उन्हें चिकित्सा और आरोग्य शास्त्र के क्षेत्र में धकेल दिया। उन्होंने अपनी इस उपेक्षा को अनेक स्थानों पर विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। वे लिखते हैं – "इस साहित्य साधना में मैंने पाया कुछ नहीं, खोया बहुत कुछ, कहना चाहिए सब कुछ धन, वैभव, आराम और शान्ति। इतना ही नहीं यौवन और सम्मान भी।" विपुल साहित्य लिखने के बाद भी उपेक्षित बने रहने पर खिन्न भाव से उन्होंने अपनी श्रेष्ठ कृति **"वैशाली की नगरवधू"** में लिखा कि "इतना मूल्य चुका कर लगभग चालीस वर्षों की अर्जित अपनी सम्पूर्ण सम्पदा को मैं आज प्रसन्नता से रद्द करता हूँ और यह घोषणा करता हूँ कि आज मैं अपनी यह कृति (वैशाली की नगरवधू) विनयांजलि सहित आपको भेंट कर रहा हूँ।" इस भावना में भी लेखक के मन में चुभा हुआ कांटे का शूल ही बोल रहा है।

उन्होंने एक अन्य स्थान पर लिखा है – "मैं साहित्यकारों की बिरादरी से जातिच्युत साहित्यकार हूँ। अपने अहम् के बलबूते पर मैंने आज तक इन बातों की (उपेक्षाभाव की) कानी कौड़ी के बराबर भी परवाह नहीं की। मैंने चार सौ से अधिक कहानियाँ लिखीं, 28-30 उपन्यास लिखे, 12 नाटक लिखे, खड़ी बोली, ब्रजभाषा और संस्कृत में कविताएं लिखी, किन्तु मुझे हिन्दी के समीक्षकों ने किसी विधा में रखना पसन्द नहीं किया। सन् 1955 में उनकी साहित्य सेवाओं के उपलक्ष्य में दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा उन्हें ताम्रपत्र भेंट किया गया। तब उन्होंने इस प्रशस्ति पत्र को स्वीकार करते हुए विनम्रता पूर्वक कहा था कि – "आपने मुझ अकिंचन, बहिष्कृत साहित्यकार को यह बहुमूल्य ताम्रपत्र प्रदान कर जो अकल्पित असाधारण सम्मान दिया है उससे मैं आश्चर्यचकित और विमूढ़ हो गया हूँ। भय मिश्रित आशंका से मेरा दिल धड़क रहा है कि कहीं दूसरे साहित्य महारथी की जगह मेरा नाम भूल से तो नहीं लिख लिया है। डरने के अनेक कारण हैं। दिल्ली भारत की राजधानी है, साहित्य महारथियों की यहाँ क्या कमी। उनके सम्मुख मैं यहाँ तीन में न तेरह में। जहाँ उपन्यासकारों की चर्चा होती है, मेरा नाम सीफर। कहानीकारों में, नाटककारों में, एकांकीकारों में, निबंधकारों में सर्वत्र सीफर। मैं इस सीफर को देखकर संतोष कर लेता हूँ और मन ही मन कह लेता हूँ –"

साहित्य देव नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं यत्प्रसादतः।
अहं पश्यामि जगत् सर्वं नमां पश्यतिकश्चन।।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के ये उद्‌गार उस समय के हैं जब उनके **'वैशाली**

की नगरवधू' और **'सोमनाथ'** जैसे उपन्यास हिन्दी जगत में लोकप्रियता के चरम बिन्दु पर थे। **अन्तस्तल, तरलाग्नि** और **कालिंदी के कूल पर** जैसे गद्य काव्य अपनी विधा में मूर्धन्य कोटि की रचनाएं थीं। **'अन्तस्तल'** का मराठी और गुजराती में अनुवाद हो चुका था। उर्दू में भी **बीसवीं सदी** अखबार में यह गद्य काव्य अनुदित करके छापा गया था। उनकी कहानियाँ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित थी और नाटक माध्यमिक कक्षाओं में पाठ्य ग्रंथ थे। यह सब होते हुए भी हिन्दी समीक्षक चतुरसेन से अपरिचित बने रहने का मिथ्या मोह पाल रहे थे।

जीवनवृत्त

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जीवन एक संघर्षशील व्यक्ति के पुरुषार्थ की रोमांचक कहानी है। चतुरसेन का जन्म एक अति निर्धन परिवार में, बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) जिले के चांदौख नामक गाँव में 26 अगस्त सन् 1891 में हुआ था। शैशव के चार वर्ष चांदौख गाँव में व्यतीत हुए। यह घर और ग्राम इनका पुस्तैनी निवास नहीं था, अस्थायी प्रवास का स्थान था। स्थायी पैतृक स्थान, इसी चांदौख ग्राम के निकट दक्षिण-पश्चिम में तीन चार कोस पर बिबियाना नामक गाँव है। बिबियाना उन्होंने बाल्यकाल में देखा था, वहाँ उनका पैतृक शिवालय, बाग और तालाब भी है। उनके पिता बहुत कम पढ़े लिखे थे। आजीविका की तलाश में चांदौख आकर बस गए थे। यहाँ उन्हें कुछ उदार व्यक्तियों का सत्संग प्राप्त हुआ। एक वैद्य होम निधि शर्मा उदार विचारों के संस्कृत पंडित और प्रसिद्ध चिकित्सक थे। दूसरे थे ठाकुर महावीर सिंह, गाँव के जमींदार। उनके पिता भी इन दोनों के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाकर रहने लगे थे। चतुरसेन की जन्म कुण्डली होमनिधि शर्मा ने ही बनायी थी। नाम रखा था चतुर्भुज, पर कहते थे कुल दीपक। उनका कहना था "लड़के के ग्रह तुम्हारे घर के योग्य नहीं हैं। जिएगा तो कुल दीपक होगा।" इसी से इनके पिता का प्यार इन पर बहुत अधिक था। कुछ दिन पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती कर्णवास पधारे थे तब इनके पिता जी और ठाकुर साहब ने कर्णवास जाकर स्वामी जी के दर्शन किए और उपदेशामृत सुना था, तभी से उनके विचार आर्य समाज की ओर झुक गए थे। जब चांदौख ग्राम में तीनों मित्रों का एक साथ रहना हुआ तो परस्पर विचार-विनिमय करने से शीघ्र ही इनके पिता कट्टर आर्य समाजी हो गए। तब तक बम्बई और लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी, परन्तु अभी उसका व्यापक स्वरूप प्रकट नहीं हुआ था। मूर्ति पूजा आदि के खंडन की चर्चा स्वामी दयानन्द के नाम के साथ देहातों में चल पड़ी थी। लोग कहते थे एक संन्यासी इधर रम रहे हैं, संस्कृत बोलते हैं। मूर्ति पूजा का खंडन करते हैं। वेद को ईश्वर-वाणी मानते हैं।

ठाकुर महावीर सिंह और इनके पिता में बहुत जोश था और उसी जोश में

इन्होंने आर्य समाज का प्रचार प्रारम्भ किया, यहाँ तक कि मन्दिरों, मठों और देवस्थानों से महादेव, चामुंडा, भैरव आदि की मूर्तियाँ रातों-रात चुराकर गंगा में या निकट के तालाब में फेंक देना, विवाह आदि कृत्य भी पौराणिक रीति पर न होने देना, इनके जोशीले काम बन गए थे। इनके पिता लाठी के धनी थे। डील-डौल में विशाल, सुरी सिन्दूरियाँ रंग, घनी दाढ़ी, मजबूत सोटा हाथ में, नालदार चमरौधा जूता। कभी-कभी केवल नमस्ते कहलाने के लिए भी लाठी का प्रयोग कर देते थे। धीरे-धीरे बोलने और कविता करने का भी इन्होंने अभ्यास कर लिया था। उनकी कविता में पातिव्रत धर्ममूलक गीत, कुरीति निवारक गीत रहते थे। वे नित्य प्रातः चार बजे उठते, कोई भजन गुनगुनाते हुए गाय-भैंसों को सानी देते, फिर चिलम भरकर हुक्का पीते हुए कपास ओटने बैठ जाते। नहा-धोकर तिलक लगाकर लोटा भर ताजा मट्ठा, पाव भर ताजा मक्खन खाकर खेतों का चक्कर लगाने निकल जाते।

उनके साथी ठाकुर महावीर सिंह गाँव के जमींदार तो थे लेकिन पूरे फक्कड़ थे। हाथ हमेशा खाली रहता था। बड़े क्रोधी थे। कभी-कभी छोटी-छोटी बातों में भी झगड़े पर उतर आते थे। आर्य-समाज के प्रचार कार्य में संलग्न रहने के कारण उनके पिता श्री केवल राम ठाकुर, आर्य समाज के प्रचार के लिए गाँव छोड़कर सिकन्दराबाद में आकर बस गये थे। सिकन्दराबाद में उस समय प्रसिद्ध आर्य-समाजी उपदेशक पंडित मुरारी लाल शर्मा का उन्हें सान्निध्य प्राप्त हुआ। शर्मा जी की मंडी में गल्ले की आढ़त की दुकान थी। गाँव के लोग उनके व्यंग्यपूर्ण भाषण सुनकर लोट-पोट हो जाते थे। उस समय चतुरसेन की आयु लगभग पाँच वर्ष थी और वे स्कूल में पढ़ते थे। उन्हीं दिनों इनके पिता ने यज्ञ, हवन, संध्या आदि सिखाने के लिए एक पंडित को नियुक्त किया। वह पंडित घोर देहाती था और पान, तम्बाकू खाया करता था। उस पंडित के प्रति चतुरसेन के मन में कभी श्रद्धा नहीं हुई। उन्हीं दिनों उनके पिता ने एक आर्य समाजी उपदेशक का लिखा हुआ ट्रैक्ट इन्हें जबरदस्ती रटा दिया था। इनके पिता को आसपास के लोग 'नमस्ते' के नाम से जानने लगे थे। दुकान के आगे नमस्ते का बोर्ड भी लगा रहता था। गाँव-देहात के लोग जब कभी कस्बे में कुछ चीज खरीदने आते तो सीधे नमस्ते की दुकान पर पहुँचते। हिन्दू, मुसलमान, हरिजन-अछूत जो भी उनकी दुकान के आगे होकर गुजरता नमस्ते कहता। आर्य समाज का प्रचार वे डण्डे से भी करते थे और जबान से भी। सभा में भाषण तो नहीं देते थे, पर गाँव देहात के दस-बीस जनों के बीच कड़कती भाषा में कुरीतियों, रूढ़ियों के विरुद्ध बोलते थे। मुरारी लाल शर्मा और इनके पिता ने मिलकर आसपास के देहातों की काया पलट कर दी थी। आर्य समाज उस चौहद्दी में फैल गया था और बाद में सिकन्दराबाद आर्य समाज का प्रमुख केन्द्र बन गया। पंडित कृपाराम जो बाद में स्वामी दर्शनानन्द

बने, सिकन्दराबाद में प्रचारार्थ आये थे। गुरुकुल खुला, समाज बना, संध्या-हवन, भजन-उपदेश, व्याख्यान-संस्कार आदि की धूम मच गयी। चतुरसेन भी अपने पिता के साथ इन भजन-उपदेशों में गाँवों में जाते थे, रटा हुआ भाषण पढ़ते थे। उस समय उन्हें प्रसिद्ध वाग्मी पंडित तुलसी राम का सान्निध्य प्राप्त हुआ और पंडित कृपाराम (दर्शनानन्द) का रूप भी देखा। इन्हीं दोनों से चतुरसेन ने दर्शन-शास्त्र पढ़ा।

चतुरसेन की माता जी ममता की प्रतिमूर्ति थीं। वे पढ़ी-लिखी नहीं थीं, किन्तु प्रकृति ने उन्हें लोकोत्तर आभा दी थी। जब इनका जन्म हुआ तब पिता जी की आयु 21 वर्ष तथा माता जी की सोलह वर्ष रही होगी। माता जी अपनी गृहस्थी का सब काम स्वयं करती थीं। चरखा कातना भी उनका नित्य नियम था। उनके बारीक सूत की गाँव भर में धूम थी। आलस्य उनके पास नहीं फटका था और कर्मठता उनका नित्य का जीवन था।

चतुरसेन जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि – "जिस दिन मेरा अक्षराभ्यास हुआ और मैं पाठशाला में गया, वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है। सुना था कि पंडित जी मारते हैं, कान खींचते हैं, मुर्गा बनाते हैं। एकाध बार दूर खड़े होकर मुर्गा बनते तथा पिटाई होते लड़कों को देखा भी था। पिटाई से मैं घबराता भी बहुत था। पाठशाला में किसी बालक की पिटाई होते देखता तो स्वयं रोते हुए घर भाग आता था। किसी बालक को पिटते हुए मैं देख नहीं सकता, लज्जाजनक बात हो सकती है, पर सत्य तो यह है कि किसी बालक को रोता देख अब भी मैं रो उठता हूँ। अपने जीवन में किसी बालक को मैंने मारा-पीटा नहीं। गुस्सा मुझमें बहुत है पर गुस्से में मैं बकझक नहीं करता, चुप्पी लगा जाता हूँ। अब जब मुझे स्वयं पाठशाला जाना पड़ा तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे मेरा सिर काटने को ले जाया जा रहा है। रोता हुआ मैं माँ के आँचल से लिपट गया। मुझे बहुत पुचकारा-फुसलाया गया और अन्त में मुझे पाठशाला जाना ही पड़ा। उस दिन पिता जी ने मेरी धोती बाँधी थी और कन्धे पर चढ़ा कर मुझे पाठशाला ले गए थे। पंडित जी के सामने बताशे रखे गये, एक रूपया भेंट किया गया। बताशे सब लड़कों को बांटे गये। मैंने पंडित जी के कहने से उनके तिलक लगाया। उन्होंने मेरे माथे पर टीका किया। फिर मेरा हाथ पकड़ कर पंडित जी ने मेरी पाटी पर 'श्री' लिखवाया। तीन बार 'श्री' उच्चारण करवाया। बस, उस दिन यही हुआ और मैं पिता जी की गोद में चढ़ कर घर आ गया। मैंने 'श्री' पढ़ा है यह भी मैंने सबको बता दिया। उस दिन की 'श्री' यह मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद में रम गयी, कभी न भूली जा सकी।"

गाँव की पाठशाला में अक्षराभ्यास हो जाने के बाद चतुरसेन जी का परिवार जिला बुलन्दशहर के सिकन्दराबाद नामक कस्बे में आकर बस गया। सिकन्दराबाद

कायस्थों और बनियों की बस्ती है कायस्थ लोग नौकरपेशा थे। उनकी आलीशान हवेलियाँ थीं। शिक्षा, संस्कृति, रहन-सहन और आर्थिक एवं सामाजिक स्तर में कायस्थों को उच्च स्थान प्राप्त था। युग के साथ चलना कायस्थों का एक बड़ा गुण रहा है। उन्होंने सदैव आधुनिकता का प्रतिनिधित्व किया। चतुरसेन के सहपाठी भी कायस्थ घरों के प्रखर बुद्धि वाले बालक थे। कायस्थ घरों के बच्चे सजे-धजे रूप में स्कूल में पढ़ने आते थे, किन्तु चतुरसेन कुर्ता पायजामा पहनकर और पैरों में जूता भी आठ-दस आने वाला होता था। उन बच्चों के साथ चतुरसेन का सहपाठी का संबंध भी स्थापित नहीं हो सका था। किन्तु एक कायस्थ निर्धन बालक चतुरसेन का मित्र बन गया और अपने जीवन में वह प्रसिद्ध वैज्ञानिक शांतिस्वरूप भटनागर के नाम से विख्यात हुआ। शांतिस्वरूप भटनागर से चतुरसेन का शैशव में जो परिचय हुआ था वह अन्तिम समय तक बना रहा। सिकन्दराबाद का कायस्थवाड़ा आज पहले जैसा संपन्न नहीं है, लगभग उजड़ गया है. हवेलियाँ सूनी पड़ी हैं, गलियों में सन्नाटा है।

चतुरसेन को अपनी शैशव की चटशाला की पढ़ाई का पूरा स्मरण रहा। इस चटशाला में उनका एक सहपाठी हरीश नामक बालक भी था। वह चतुरसेन के साथ खेल और पढ़ाई दोनों में ही साथ रहता था। बाद में वह रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ने चला गया। इंजीनियरिंग कॉलेज से डिग्री लेकर वह सरकारी इंजीनियर बनकर बर्मा में नौकरी पर चला गया। हरीश और चतुरसेन दोनों का विवाह विद्यार्थी जीवन में ही हो गया था और तभी से दोनों में गहरी मित्रता स्थापित हो गयी थी। चतुरसेन दिल्ली में तथा हरीश रंगून में बस गए थे। रंगून में एक पुल बनाते समय अकस्मात मृत्यु हो गयी। हरीश के लिखे हुए कुछ पत्र आचार्य चतुरसेन ने अपने पास सुरक्षित रखे हुए हैं जिन्हें अपनी आत्मकथा में उद्धरित किया हैं इन पत्रों को पढ़कर दोनों की मैत्री का जो चित्र उभरता है वह आधुनिक काल का मैत्री संबंध न होकर लगता है कि कृष्ण सुदामा की सच्ची मैत्री का एक रूप रहा होगा। चतुरसेन ने अपने विद्यार्थी जीवन के कुछ रोचक संस्मरण भी लिखे हैं उनमें पंडित छोटे लाल का जीवन चरित्र बहुत विस्तार से उभारा है। सर शांतिस्वरूप के बाल जीवन की कहानी भी रोचक शैली में अपने संस्मरणों में अंकित की है।

पन्द्रह वर्ष की आयु में जब चतुरसेन अंग्रेजी स्कूल में पढ़ रहे थे तभी उनके पिता पंडित मुरारी लाल शर्मा और स्वामी दर्शनानन्द के प्रयत्नों से सिकन्दराबाद से चार मील दूर दनकौर स्टेशन के समीप गुरुकुल सिकन्दराबाद की स्थापना हुई। गुरुकुल में प्रविष्ट होने वालों में चतुरसेन पहले विद्यार्थी थे। गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही अंग्रेजी पढ़ना छूट गया और संस्कृत साहित्य तथा धर्मशास्त्र के प्रति उनकी गहरी रुचि हो गई। संस्कृत साहित्य, व्याकरण और धर्मशास्त्र आदि पढ़ने में उनका

मन लगने लगा। गुरुकुल के अनुशासन के कारण उनका मन कुछ उचटने भी लगा था और तभी उन्हें पता लगा कि काशी में संस्कृत साहित्य पढ़ने से बहुत लाभ होगा। अतः गुरुकुल के अपने दो सहपाठियों को साथ लेकर काशी चलने की योजना बनाई, किन्तु उनके पास मार्गव्यय नहीं था। बिना रुपया-पैसा तथा कपड़ा आदि लिये वे तीनों रात की ट्रेन में बनारस के लिए चल पड़ें रास्ते में उनके लिए दो व्यक्तियों ने कानपुर और इलाहाबाद तक के टिकट का प्रबंध कर दिया था। इलाहाबाद से काशी पहुँचे और काशी में उनके रहने का कोई ठीक प्रबंध तो नहीं था फिर भी क्षेत्र में निःशुल्क भोजन करते और किसी धर्मशाला में सो जाते। वहाँ के विद्यार्थियों को देखकर उन्हें कुछ विस्मय तो होता। किसी भी पाठशाला में दस-बीस विद्यार्थी नंगे बदन, धोती पहने, जनेऊ धारण किये, मस्तिष्क पर तिलक छाप लगाए अपने गुरू के सम्मुख पालती मारे बैठे रघुवंश, हितोपदेश, पंचतंत्र, लघु कौमुदी, अष्टाध्यायी, अमरकोश, ज्योतिष शास्त्र आदि संस्कृत पुस्तकों का पाठ पढ़ते दिखायी देते थे। गुरू के प्रति उनकी सम्मान भावना देखने की वस्तु होती थी।

काशी में संस्कृत अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिला और कुछ व्रत-उपवास करने की प्रेरणा भी उन्हें काशी में ही मिली। चतुरसेन सोलह मास काशी में रहे। उन्होंने यह अनुभव किया कि काशी में जितना समय अध्ययन में व्यतीत होता है उससे अधिक समय पूजा-पाठ आदि में व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। इसीलिए उन्होंने 19 वर्ष की आयु में जयपुर के संस्कृत कॉलेज में जाकर संस्कृत और वैद्यक का अध्ययन प्रारम्भ किया। रहने के लिए आर्य समाज मंदिर में स्थान मिल गया था। वहीं पर एक दाक्षिणात्य विद्यार्थी भी जयपुर में पढ़ने आया था। वह अंग्रेजी अच्छी जानता था, इसलिए उसे छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए अंग्रेजी की ट्यूशन भी मिल गयी थी। उसंका नाम था सूर्यप्रताप। उनके निवास के समीप ही एक तहसीलदार साहब रहते थे। उनका बेटा 'छोटे' भी सूर्यप्रताप के पास अंग्रेजी पढ़ने आता था। इस प्रकार वह हमारी मण्डली में शामिल हो गया। बाद में वही 'छोटे' दिल्ली आकर बस गया और दिल्ली का एक सुप्रसिद्ध नागरिक सामाजिक तथा राजनैतिक नेता बना। दिल्ली म्युनिसपलैटी का चेयरमैन, दिल्ली कांग्रेस का अध्यक्ष, आर्य समाज का प्रधान और दिल्ली असैम्बली में 'स्वास्थ्य मंत्री' के रूप में विख्यात हुआ, नाम था उसका – डा० युद्धवीर सिंह। होम्योपैथिक चिकित्सा में उसने बहुत यश और धन अर्जित किया। जयपुर निवास के समय उन्हें आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में जाने का सुयोग प्राप्त होता था। उन अधिवेशनों में आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान गणपत शर्मा, मधुसूदन आचार्य, से वेद-दर्शन आदि पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आर्य समाज में उस सत्संग ने उन्हें कट्टर आर्य समाजी बना दिया था। अछूतोद्धार, विधवा विवाह, शुद्धि आन्दोलन आदि

से उनका गहरा संबंध हो गया था। उन्हीं दिनों अजमेर के प्रसिद्ध वैद्यराज कल्याण सिंह जी से उनका परिचय हुआ और वे जयपुर आकर चतुरसेन की पढ़ाई आदि के बारे में पूछताछ करते रहे। उन्हीं की प्रेरणा से चतुरसेन ने आयुर्वेद पढ़कर चिकित्सक बनने का निश्चय किया था।

जब चतुरसेन जयपुर से अध्ययन समाप्त कर सिकन्दराबाद लौटे तब उनके पिता ने उनके विवाह की योजना बनाई और 28 अप्रैल 1912 को उनका विवाह सम्पन्न हुआ। उनके श्वसुर वही वैद्यराज कल्याण सिंह थे जो अजमेर में आयुर्वेद की प्रैक्टिस करते थे, जिन्होंने जयपुर में अध्ययन करते समय चतुरसेन को देखा था।

चतुरसेन शास्त्री के जीवन संघर्ष का सामान्य परिचय देकर हम उनके पारिवारिक परिवेश को भी एक उल्लेखनीय बिन्दु मानते हैं। उनके जीवन में घर-गृहस्थी ही एक विकट पहेली बनी रही। शास्त्री जी का पहला विवाह तारावती के साथ अत्यन्त सादगी से वैदिक पद्धति के अनुसार सन् 1912 में सम्पन्न हुआ। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पंडित पद्म सिंह शर्मा इस विवाह में सम्मिलित हुए थे। तारावती की दस वर्ष बाद मृत्यु हो गयी और सन् 1923 में दूसरा विवाह प्रेमबाला देवी के साथ हुआ। दुर्भाग्य से 10 वर्ष बाद उनका भी निधन हो गया। तीसरा विवाह ज्ञानवती के साथ सन् 1934 में हुआ, किन्तु 10 वर्ष बाद ज्ञानवती ने भी इहलोक लीला संवरण की। शास्त्री जी फिर एकाकी रह गए। निःसन्तान थे। गृहणी के बिना तो घर सूना होता ही है, जीवन को जटिल भी बना देती है। शास्त्री जी के परिजनों ने घर की विपन्न दशा देखकर उनके विवाह का पुनः आयोजन किया और उनके अनुरोध को स्वीकार कर उन्होंने कमला के साथ चौथा विवाह किया। श्रीमती कमल किशोरी चतुरसेन आज उपस्थित हैं और अपने पूज्य पति की यश काया को जीवित रखने में तत्पर है। उनकी एक मात्र पुत्री 'ज्योत्सना' ही अपने पिता की स्मृति रक्षा में हमारे बीच विद्यमान हैं। शास्त्री जी जैसे संवेदनशील साहित्यकार और सुयोग्य चिकित्सक को अपनी तीन पत्नियों के असामयिक निधन की जिस मर्मान्तक पीड़ा से गुजरना पड़ा होगा उसकी कल्पना कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। उनकी साहित्यिक कृतियों में हम इस वेदना को सहज ही पहचान सकते हैं।

पारिवारिक कष्ट कथाओं के व्यवधान के मध्य भी शास्त्री जी का अध्ययन क्रम सतत चलता रहा। आयुर्वेद की शास्त्री और आचार्य परीक्षाएं उन्होंने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उनके श्वसुर श्री कल्याण सिंह अजमेर में वैद्य थे और उनकी इच्छा थी कि चतुरसेन भी वैद्य बनकर दिल्ली या अजमेर में स्थापित हो। वैद्य का पेशा उस समय घाटे का नहीं था। उनकी प्रेरणा से शास्त्री जी ने पहले दिल्ली में और तत्पश्चात् अजमेर में वैद्यक का काम किया। वैद्य के रूप में प्रतिष्ठित होने

पर भी उनके भीतर साहित्य सर्जक का जो बीज छुपा था वह शनैः शनैः अंकुरित होने लगा। अजमेर में उन्हें मनोनुकूल साहित्यिक वातावरण नहीं मिला। इसलिए उन्होंने बम्बई जाने का निश्चय किया। बम्बई पहुँचकर वहाँ के व्यस्त जीवन में उन्हें कथावस्तु के लिए अनुकूल वातावरण मिला। **'हृदय की परख'** शीर्षक उपन्यास एक सत्य घटना के आधार पर लिखा और उस समय हिन्दी जगत में वह चर्चित हुआ। बम्बई प्रवास में शास्त्री जी का परिचय उर्दू के प्रसिद्ध लेखक और 'बीसवीं सदी' अखबार के सम्पादक हाजी मुहम्मद अल्लाह रखिया सिबली से हुआ। उन्होंने **'हृदय की परख'** उपन्यास को बहुत पसन्द किया और उर्दू अनुवाद के साथ अपने पत्र **'बीसवीं सदी'** में क्रमशः प्रकाशित करना शुरू किया। **बीसवीं सदी** अखबार में शास्त्री जी के कुछ गद्यकाव्य भी उर्दू में अनूदित होकर छपते थे। **दिवाली, अनुताप, रूप** और **दुख** भी गद्यकाव्य ही थे जो हाजी साहब को बहुत पसन्द थे। इसलिए हाजी साहब ने इन्हें अनूदित करके अपने अखबार में छापा था। दरअसल शास्त्री जी को भावात्मक गद्यकाव्य लिखने की प्रेरणा हाजी साहब से ही मिली थी। शास्त्री जी का प्रसिद्ध गद्यकाव्य **'अन्तस्तल'** उन्हीं की प्रेरणा की परिणति है। उन्हीं दिनों शास्त्री जी ने अपनी गद्यकाव्यात्मक रचनाएं 'प्रताप' में भी छपवायी थीं। चित्तौड़ के किले में, 'स्वदेश', 'खूनी', 'अनूपशहर के घाट पर', आदि गद्य काव्य **'प्रताप'** में छपते रहे और अन्त में **'अन्तस्तल'** हिन्दी में गद्य काव्य की प्रथम प्रकाशित पुस्तक के रूप में सामने आया। इस पुस्तक के भूमिका लेखक थे – पंडित पद्म सिंह शर्मा। **'अन्तस्तल'** काफी अरसे तक कई विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत रहा। **'अन्तस्तल'** के मराठी, गुजराती और उर्दू में अनुवाद भी प्रकाशित हुए। हिन्दी में तो इसके एक दर्जन से अधिक संस्करण छपे।

राजनीतिपरक लेखन

इस पुस्तक के साथ ही बम्बई के श्री नाथूराम प्रेमी ने इनकी अन्य रचनाएं भी प्रकाशित करने का वचन देकर इन्हें लेखन में प्रवृत्त कर दिया। इस प्रकार शास्त्री जी का हिन्दी साहित्य में मनोयोग के साथ प्रवेश हो गया। आश्चर्य की बात यह है साहित्य प्रेमी शास्त्री जी अपने चिकित्सा कार्य के साथ राजनीति में भी गहरी रुचि रखते थे। उन दिनों भारत के राजनीतिक क्षितिज पर तिलक और गाँधी की विचारधारा का प्रभाव था। उसी प्रभाव में बहते हुए शास्त्री जी ने स्वराज्य, सत्याग्रह, असहयोग आदि विषयों पर कलम चलाना प्रारम्भ किया। उनकी पुस्तक **'सत्याग्रह और असहयोग'** सन् 1921 में गाँधी पुस्तक हिन्दी भंडार, बम्बई से प्रकाशित हुई थी। उस समय के राजनीतिक नेताओं ने उसे चाव से पढ़ा और खूब सराहा। गणेश शंकर विद्यार्थी ने पुस्तक के भाव और भाषा पर मुग्ध होकर

शास्त्री जी को जेल से पत्र लिखा था – "मैं इस पुस्तक को असहयोग और राजनीति की गीता मानता हूँ और उसका पाठ गीता की भाँति करता हूँ।" यह पुस्तक कुछ मास बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर ली गयी, किन्तु जब्ती के पहले मराठी और गुजराती संस्करण पाठकों तक पहुँच चुके थे। इस पुस्तक के दस वर्ष बाद शास्त्री जी ने 'सन् 1920 बनाम् 30' शीर्षक से एक राजनीतिपरक पुस्तक लिखी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। सामाजिक तथा शिक्षा विषयक पुस्तकें तो शास्त्री जी निरन्तर लिखते रहते थे। समाज सुधार के कार्यों में उनकी रुचि ही नहीं, गहरी पैठ भी थी। प्रौढ़ शिक्षा को वे भारत के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता मानते थे इसलिए प्रौढ़ शिक्षा की दर्जनों पाठ्य पुस्तकें लिखकर सरकार का इस ओर ध्यान आकृष्ट करते रहे।

आयुर्वेदिक ग्रंथ

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साहित्यिक प्रदेय पर कुछ कहने से पहले मैं उनकी आरोग्य शास्त्र तथा चिकित्सापरक पुस्तकों की चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ। शास्त्री जी ने प्रारम्भ में आयुर्वेद की सर्वोच्च परीक्षाएं उत्तीर्ण करके चिकित्सक के रूप में जीविकोपार्जन प्रारम्भ किया था। किन्तु वे केवल चिकित्सा ही नहीं करते थे, अपने चिकित्सा विषयक ज्ञान और अनुभव को लिपिबद्ध भी करते रहते थे। चिकित्सा-विषयक उनकी लगभग चालीस पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें विशालकाय ग्रंथ **'आरोग्य शास्त्र'** बहुचर्चित है। **अमीरों के रोग, छूत की बीमारियाँ, सुगम चिकित्सा, काम कला के भेद** आदि पुस्तकों में भी चिकित्सा विषयक अच्छी जानकारी प्रस्तुत की गयी है। इन पुस्तकों की रचना के मूल में उनका अपना अनुभव ही मुख्य रूप से प्रेरक रहा है। मुझे लगता है कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री की साहित्यिक सेवाओं की आलोचकों द्वारा उपेक्षा के पीछे उनका रचना वैविध्य भी एक कारण रहा है। जो व्यक्ति आयुर्वेद, राजनीति, प्रौढ़ शिक्षा, आर्य संस्कृति, समाजशास्त्र आदि विषयों पर लिखता रहा है, उसके लेखन को शुद्ध साहित्य की सीमाओं से बहिष्कृत करके उपेक्षा भाव से देखना, साहित्य समीक्षकों के लिए एक सीमा तक क्षम्य माना जा सकता है। उन्होंने लगभग पैंतीस वर्ष तक वैद्य के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। साहित्य लेखन भी चलता रहा किन्तु वह पूर्णकालिक लेखन कार्य नहीं था। अतः हिन्दी के पाठक और आलोचक दोनों ही सजगतापूर्वक उनके लेखन से जुड़े नहीं रह सके। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि '**हृदय की परख, हृदय की प्यास** और **अन्तस्तल**' जैसी रचनाओं से तीसरे दशक में ही उनका नाम हिन्दी जगत में सुपरिचित हो गया था। इसी तीसरे दशक में मासिक पत्र **चाँद** के दो विशेषांकों का उन्होंने सम्पादन किया। **'फांसी'** अंक और **मारवाड़ी विशेषांक** के सम्पादक के रूप में उनके पांव साहित्य

की देहली पर जम गए थे। इन दोनों विशेषांकों की सामग्री एकत्र करने में शास्त्री जी ने जो घोर परिश्रम किया वह आज के युग में कल्पित कहानी प्रतीत होती है। **फांसी अंक** को ब्रिटिश सरकार ने जब्त करके उसके सम्पादक चतुरसेन शास्त्री को अखबारों की सुरखी में ला दिया था।

शास्त्री जी के साहित्य का दूसरा क्षेत्र राजनीति था। जिसे आज सक्रिय राजनीति कहा जाता है उसमें तो उन्होंने हिस्सा नहीं लिया किन्तु देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त करने के लिए उन्होंने भारतीय जनता को कुछ राजनीतिक विषयक पठनीय पुस्तकें अवश्य प्रदान की थीं। उस युग के क्रांतिकारी युवक उनकी राजनीति विषयक पुस्तकें पढ़ते थे। **'पराजित गाँधी तथा सन् 20 बनाम 30'** उस वर्ग में बड़े मनोयोग पूर्वक पढ़ी जाती थी। बहुत कम लोग जानते हैं कि सरदार भगत सिंह भी शास्त्री जी के सम्पर्क में थे और जिस दिन असैम्बली भवन में बम्ब फेंका गया उस दिन बलवंत सिंह नाम का युवक भगत सिंह ही था जो शास्त्री दम्पत्ति के लिए असैम्बली भवन में प्रवेश के लिए पास लाया था। शास्त्री जी बम काण्ड के समय भवन में उपस्थित थे और बाद में इसी केस के सिलसिले में उन्हें पुलिस हिरासत में लाहौर जाना पड़ा था। उनके घर की तलाशी भी हुई और लम्बे समय तक उन्हें पुलिस निगरानी में भी रहना पड़ा था। यह ठीक है कि राजनीति शास्त्री जी का मुख्य विषय नहीं था किन्तु उस युग के आन्दोलनों ओर संघर्षों से शास्त्री जी अपने को मुक्त नहीं रख सके थे। फलतः उन्होंने क्रान्तिकारी युवकों को अपनी शैली से प्रोत्साहित किया तथा साहित्यिक शैली में पुस्तकें लिखकर भारत की पराधीनता का भली-भाँति परिचय कराया।

द्वितीय अध्याय

सर्जक साहित्यकार

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के सर्जक रूप को परखने के लिए विविध विधाओं में लिखी उनकी रचनाओं का आकलन आवश्यक है। शास्त्री जी की मुख्य साहित्यिक विधा तो उपन्यास-कहानी ही थी। उन्होंने लगभग तीन दर्जन उपन्यास और चार सौ के लगभग कहानियाँ लिखी हैं। किन्तु नाटक, गद्य काव्य, एकांकी, समाजशास्त्र, धर्म, इतिहास, निबंध और सामयिक लेख भी इन्होंने पर्याप्त मात्रा में लिखे। यदि समस्त विधाओं पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह एक पूरे शोध प्रबंध का रूप ग्रहण कर लेगा। किन्तु हम केवल उनके साहित्यिक कृतित्व को ही उद्घाटित करना चाहते हैं, अतः हर विधा पर गवेषणात्मक या आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करना संभव नहीं है।

उपन्यास साहित्य

शास्त्री जी के उपन्यास साहित्य में **वैशाली की नगरवधू, सोमनाथ, वयंरक्षामः, गोली, खून और सोना** (तीन खण्ड), **रक्त की प्यास, हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा, नरमेध, अपराजिता, धर्मपुत्र** आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों को हम मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इतिहास मूलक ऐतिहासिक उपन्यास तथा कल्पनाश्रित सामाजिक उपन्यास। एक उपन्यास **'खग्रास'** शीर्षक से भी लिखा है जिसका विषय आधुनिक विज्ञान है। शास्त्री जी की मान्यता थी कि आधुनिक विज्ञान विषय पर हिन्दी में यह पहला उपन्यास है।

शास्त्री जी के उपन्यासों में **'वैशाली की नगरवधू'** एक प्रसिद्ध उपन्यास है जिसे शास्त्री जी स्वयं अपनी प्रिय रम्य रचना मानते थे। इस उपन्यास के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है – "यह उपन्यास हिन्दी साहित्य में इतिहास रस का प्रथम उपन्यास है।" इस उपन्यास की कहानी 'अंबपाली' शीर्षक से जातक साहित्य में उपलब्ध होती है। अंबपाली वैशाली की एक गणिका थी जिसका प्रभाव वैशाली के नागर समाज में अपने रूप सौन्दर्य के कारण चर्चा का विषय बना हुआ था। अंबपाली की कहानी को पढ़कर सन् 1926 में उन्होंने इसे 'अंबपाली' शीर्षक से मासिक पत्र 'चांद' में प्रकाशित कराया था। अंबपाली ने शास्त्री जी के मन में एक बृहद् उपन्यास लिखने की उत्कट इच्छा जागृत कर दी थी जो सन् 1942 में पूरी हुई तभी उन्होंने **'वैशाली की नगरवधू'** शीर्षक से एक उपन्यास लिखा,

किन्तु उसे मुद्रित नहीं कराया। उनकी इच्छा इस पाण्डुलिपि में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन करने की थी। **'वैशाली की नगर वधू'** के कथानक को शास्त्री जी ने जिस शैली से लिखा था वह उन्हें ही नहीं उनके मित्रों को भी बहुत पसन्द थी। एक शुभैषी मित्र ने चुपचाप वह पाण्डुलिपि चुरा ली। शास्त्री जी को अपनी स्मृति के आधार पर इस उपन्यास को पुनः लिखना पड़ा और छः वर्ष बाद यह उपन्यास प्रकाशित हो सका।

जैसा कि मैंने पहले संकेत किया है कि शास्त्री जी ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास रस मानते थे किन्तु इतिहास नामक कोई रस काव्य शास्त्र में स्वीकृत नहीं है। साहित्य के आचार्यों ने साहित्य में नवरस ही स्वीकार किए हैं किन्तु उन नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, भक्ति आदि भी रस संख्या में जुड़ गए। शास्त्री जी का मानना था कि इतिहास रस भी एक निर्दिष्ट रस है जिसे रस की कसौटी पर स्वीकार करना चाहिए। रस का तात्पर्य है आनन्दानुभूति। यदि इतिहास के कथानक या पात्रों के चरित्र से पाठक के मन में आनन्द का अनुभव होता है तो उसी को इतिहास रस मानना चाहिए। **'वैशाली की नगरवधू'** के प्रकाशन के समय उन्होंने इस रस के समर्थन में बहुत कुछ कहा और लिखा था किन्तु साहित्य शास्त्रियों ने उनके कथन को कोई महत्व नहीं दिया।

'वैशाली की नगरवधू' के प्रकाशित होने से पहले हिन्दी में श्री वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास चर्चित हो चुके थे। **'गढ़कुण्डार'** और **'विराटा की पद्‌मिनी'** का पृष्ठाधार भी इतिहास ही था। उसमें कल्पना का अतिरेक होने पर भी मेरुदण्ड इतिहास होने से उन्हें ऐतिहासिक उपन्यासों में पठनीय स्थान मिला था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन साहित्यकारों में किशोरी लाल गोस्वामी तथा राधा चरण गोस्वामी ने भी ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में पदार्पण किया था किन्तु उनके उपन्यास लोकप्रिय नहीं हुए। अतः द्विवेदी युग में ऐतिहासिक उपन्यासों की शृंखला बनी नहीं रही। वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यास को जीवित करने का श्रेय बाबू वृन्दावन लाल वर्मा को ही है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास **'वैशाली की नगरवधू'** शीर्षक से 1948 में गौतम बुक डिपो, नई सड़क दिल्ली से प्रकाशित हुआ और दो वर्ष के भीतर ही उसका पहला संस्करण समाप्त हो गया। शास्त्री जी अपनी लेखनी के चमत्कार से स्वयं चकित थे और अपनी नगर वधू को वैशाली से निकालकर अपनी बगल में दबाए दिल्ली की गलियों में घूमते फिरते थे। उस समय के तरुण कथा प्रेमियों में शायद ही कोई ऐसा होगा जिसने शास्त्री जी द्वारा निर्मित उस नगर वधू को मुद्रित अक्षर में न देखा हो। भारत की अन्य भाषाओं में भी उसकी चर्चा हुई अवश्य, किन्तु प्रकाशक के निधन के कारण उसका अन्य भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सका।

यह उपन्यास भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू को समर्पित

है। जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध में शास्त्री जी ने एक मासिक पत्रिका का जवाहर विशेषांक संपादित करते हुए लिखा था – "आज के इन तरुणों के मस्तक पर जो नरपुंगव शोभायमान है, वह 'जवाहरलाल' है। वह नररत्न आज भारत का ही नहीं, एशिया भर का सर्वाधिक त्राता और संरक्षक है। इस पुरुष की राजनीति और व्यापक ख्याति ने विश्व के भाग्य विधाताओं को इसके प्रति चौकन्ना किया हुआ है और यह कहा जा सकता है कि यही पुरुष निकट भविष्य में विश्व की सार्वभौम शक्ति की स्थापना में सर्वोच्च स्थान ग्रहण करेगा। देश ने उसे आज राष्ट्रपति का स्थान दिया है, पर वह तो जन्मसिद्ध राष्ट्रपति है। आज भारतीय कांग्रेस द्वारा संभवतः एशिया की सम्पूर्ण एशियाई देशों की भाग्य-रेखाएं भी बदल जायेगी। इसलिए तिश्व की राजनीति में जवाहरलाल का स्थान गाँधी, चर्चिल, स्टालिन और चॉक गाईशेक से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इन सबसे सफलता दूर है, एक जवाहरलाल ही उसके द्वार पर पहुँचे हैं। जवाहरलाल ने हमारे लिए वेदनाओं के पर्वत छाती पर उठाए हैं। उन्होंने अपनी आयु का एक बड़ा भाग जेल की घृणास्पद कोठरियों में काटा है, पत्नी का विछोह सहा है, जीवन की बहुत सी लालसाओं से वे विरत रहे हैं। उन्होंने इच्छापूर्वक श्रीमन्तों का ताज उतार फेंका है और हमारी गरीबी और भूख में शरीक रहे है।"

इसी से उन्होंने अपनी सबसे प्रिय वस्तु अपनी साहित्यिक प्रतिनिधि रचना **'वैशाली की नगरवधू'** उन्हें समर्पित करते हुए लिखा था – "ओ ब्राह्मण, तेरे राज्य में शत-प्रतिशत असुविधाओं और विपरीत परिस्थितियों में जी कर हमने यह ग्रन्थ तैयार किया है। तू जो पाश्चात्य राजनीति के ध्वस्त मार्ग पर अपने आसपास के कूड़े क्रर्कट का भार लाद, उतावली में देश को घसीट ले चला और मानव संस्कृति के निर्माता तथा कोटि-कोटि जनपद के शास्ता साहित्यजनों को एक बारगी ही भूल बैठा, इससे तुझ पर निर्भर रहने वालों और तुझे प्यार करने वालों को सिर धुन-धुन कर अपने ही कायर रक्त में आचूड़ स्नान करना पड़ा। तो भी वे तुझे प्यार करते हैं। किन्तु मैं रोषावेशित हूँ, क्योंकि मैंने उन सबसे अधिक तुझे प्यार किया है। इसलिए कि तू मेरी दृष्टि में पूर्वीय भूखण्ड पर एकमात्र जीवित सर्वश्रेष्ठ पुरुष है। अपने साहित्यिक रोष और हार्दिक प्यार की स्मृति में यह अपनी प्रतिनिधि रचना तुझे भेंट करता हूँ।"

'वैशाली की नगर वधू' के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है कि – "इस उपन्यास को लिखकर मैंने हिन्दी कथा साहित्य सोपान में पांचवों पैडी (सीढ़ी) है। ऐतिहासिक उपन्यास को पढ़कर पाठकों को ऐतिहासिक ज्ञान अर्जन करने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। **'वैशाली की नगरवधू'** की कथावस्तु का आधार बौद्ध ग्रंथों में वर्णित वैशाली की गणिका अम्बपाली थी। ऐसा कहा जाता है कि गणिका अम्बपाली ने वैशाली में आने पर बुद्ध को भोजन का निमंत्रण दिया था

और उस पर वैशाली के राजपुरुषों ने ईर्ष्या की थी। ऐसी भी किंवदन्ती है कि वैशाली गणतन्त्र में एक ऐसा कानून था जिसके आधार पर राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को अविवाहित रखकर वेश्या बना दिया जाता था। जब मैंने यह उपन्यास लिखना शुरू किया तब मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि कहाँ से प्रारम्भ करूँ और कैसे करूँ ? मैं सन् 1938 में बिहार के राजगृह नामक नगर में एक रोगी की चिकित्सा के लिए गया हुआ था। राजगृह में रहते हुए मेरा ध्यान अम्बपाली की जीवन घटना की ओर सतत बना रहता था। मुझे ऐसा लगता था कि मैं सचमुच ही अम्बपाली को सामने देख रहा हूँ। मेरा यह स्वप्न था या सत्य, यह तो मैं नहीं कह सकता किन्तु मैंने जो कुछ वहाँ देखा और समझा था, मैंने उसे कलमबद्ध करना शुरू कर दिया। यहीं से **वैशाली की नगरवधू** का लिखना प्रारम्भ हुआ। यह मेरी उन्माद की स्थिति थी, जिसने मुझे उपन्यास लेखन में प्रवृत्त किया था। इस प्रकार यह उपन्यास मैंने पूरा किया।"

"इस उपन्यास के कथानक में मेरी कल्पना का ही आधिक्य है, किन्तु उस कल्पना की पृष्ठभूमि में बौद्ध साहित्य के वे ग्रंथ अवश्य रहे हैं जिनमें अम्बपाली का वर्णन है। मैं यह नहीं कहता कि मेरा यह उपन्यास इतिहास बोध करायेगा। किन्तु **'वैशाली की नगर वधू'** (अम्बपाली) को पढ़कर तत्कालीन समाज की उन प्रथाओं का चित्र पाठक के मस्तिष्क में अवश्य उभरेगा जिन सामाजिक प्रथाओं द्वारा उस समय का सामाजिक जीवन प्रभावित था। वेश्यावृत्ति, अपराध है या नहीं ? यह प्रश्न विश्व के प्रायः सभी देशों में अनेक बार उठा है और आज भी उठता रहता है किन्तु उसका कोई समाधान अध्यावधि नहीं मिला है।" **'वैशाली की नगर वधू'** भी समाधान न देकर समस्या को ज्वलंत रूप में उभारकर पाठक के सामने प्रस्तुत कर देती है। उपन्यास की विशेषता यह है इसमें शास्त्री जी की शैली का सौष्ठव, कथा का प्रवाह, भाषा की प्रांजलता और पात्रों की युगानुरूप अवतारणा देखकर हमें शास्त्री जी की औपन्यासिक कला की प्रशंसा करनी पड़ती है। जिस रोचक और मार्दव शैली में यह उपन्यास लिखा गया है वह वर्षों तक इतिहास रस का श्रेष्ठतम उदाहरण बना रहा।

'वैशाली की नगर वधू' कथा रस की दृष्टि से निश्चय ही उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। इस उपन्यास के लिखने की प्रेरणा के संबंध में बौद्ध साहित्य की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। दूसरा संकेत उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा में दिया है जिसमें उन्होंने गुजराती के कथालेखक धूमकेतू की चर्चा की है। "धूमकेतु ने अम्बपाली से संबंधित एक कहानी गुजराती भाषा में लिखी थी। उस कहानी को पढ़ने के बाद मेरे मन में दुर्निवार आकांक्षा पैदा हुई कि मैं अंबपाली से संबंधित कथा को केन्द्र में रखकर एक उपन्यास लिखूँ और मैंने नये सिरे से यह उपन्यास लिखना आरम्भ किया।" इस लेखन के समय दो नयी बातें सामने आईं एक तो

राहुल सांकृत्यायन का **'सिंह सेनापति'** उपन्यास, दूसरा उनका कहानी संकलन **'वोल्गा से गंगा'**। "ये दोनों पुस्तकें शास्त्री जी के मन पर ऐसा गहरा प्रभाव छोड़ गई कि उन्हें लगा कि इन पुस्तकों को अवश्य ही विश्व साहित्य में स्थान मिलेगा।" इन दोनों पुस्तकों को पढ़ने के बाद शास्त्री जी ने जैन और बौद्ध साहित्य का गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया। वैशाली नगर की गणिका अंबपाली एक असाधारण संकल्प शक्ति वाली महिला थी। उसको उन्होंने अपनी कल्पना के माध्यम से इस उपन्यास में चित्रित किया है। वे यह मानते हैं कि "जहाँ नारी प्रणय का वर्णन होगा, वहाँ लेखक को केवल इतिहास की घटनाओं तक सीमित न रहकर कल्पना जगत में प्रवेश करना ही पड़ता है। नारी प्रणय के संदर्भ में जहाँ इतिहास रस का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ प्रायः यही देखने को मिलता है कि हृदय विप्लव के बाद राष्ट्र विप्लव हुआ। इतिहास के अनेक असाधारण नरपुंगवों ने नारी की माया के वशीभूत होकर जीवन होम किया है। मानव कुल के जीवन के ऐसे करुण भग्नावशेषों में इतिहास पथ भरा पड़ा है। लेखक जब जीवन की इन घटनाओं पर विप्रलंभ शृंगार और इतिहास रस का मिश्रण करके भैरव संहार की भेरी बजाता है तो कोटि-कोटि जनपद उन्मत्त, उद्भ्रान्त हो जाता है। अब कोई इसे प्रमाणों के प्रबल धक्के देकर हजार ऐतिहासिक भूलें निंकालता फिरे, उसे भ्रान्त और विकृत कहता फिरे, पर लेखक ने जिस इतिहास रस की सृष्टि की है वह इतिहास के लाख सत्य प्रकट होने पर भी फीका न होगा।" **'वैशाली की नगर वधू'** की कथावस्तु का आधार बौद्ध ग्रंथ अवश्य है किन्तु शास्त्री जी की अपनी कल्पना ने उन बौद्ध ग्रंथों को पीछे छोड़कर मानव मन की अतल गहराइयों में प्रवेश करने का साहस किया है। इसीलिए इस कृति में कुछ ऐसी घटनाओं का कल्पना के साथ सम्मिश्रण हो गया है जो अम्बपाली के शक्ति-सामर्थ्य को बहुत अधिक दबंग नारी के रूप में उभारता है।

सोमनाथ

सोमनाथ का मन्दिर गजनवी महमूद के आक्रमणों के काल में तोड़ा गया जो भारत के इतिहास में एक बहुत बड़ी दुर्घटना थी। ब्रिटिश शासन काल में जो इतिहास लिखे गये उनमें इस घटना का संकेत तो था किन्तु स्कूल में पढ़ाई जाने वाली इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में विस्तार से कोई जानकारी नहीं दी गयी थी। इन पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त और जो इतिहास की पुस्तकें सुलभ थीं उनमें भी महमूद गजनवी के आक्रमण के अतिरिक्त सोमनाथ मन्दिर विषयक प्रकरण को विस्तार नहीं दिया गया था। शास्त्री जी सोमनाथ का इतिहास पढ़ने के लिए लालायित थे और ऐसी पुस्तकें एकत्र करने में लगे रहे जिनमें सोमनाथ विषयक प्रामाणिक जानकारी मिल सके। गुजराती की पुस्तकों में सोमनाथ की चर्चा विस्तार

से मिलती है, ऐसा उन्हें बताया गया था। उनके गुजराती भाषी मित्र हाजी मुहम्मद अल्लाह रखिया शिवजी को गुजरात के इतिहास का अच्छा ज्ञान था। शास्त्री जी ने उनसे सम्पर्क किया और गुजराती साहित्य की सामग्री एकत्र कर ली। जो सामग्री मिली वह भी प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। उनके दूसरे मित्र महावीर प्रसाद दाधिच ने उन्हें सलाह दी कि सोमनाथ के विषय में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध करने के लिए उन्हें कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी से सम्पर्क करना चाहिए।

सबसे प्रथम उनका ध्यान हिन्दुओं के रूढ़िवाद, अज्ञान, धर्मान्धता, कट्टरता, जातिभेद और आत्मकलह पर गया। उन्होंने स्वीकार किया कि इसी ने हिन्दुओं को पराजित और दलित किया है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने कुछ नए चरित्रों की सृष्टि की जैसे – दासी पुत्र देवा, देवस्वामी, फतहमुहम्मद आदि चरित्र। विद्रोह, तेजस्विता, शौर्य, कर्मठता, निष्ठा, दृढ़ता, प्रेम आदि की प्रतिष्ठा की गई और लेखक ने अपनी समझ से उसे उसी (देवस्वामी) की अनन्य प्रेमिका देवा के हाथ से वध कराकर उसके जीवन को सार्थक कर दिया। दूसरी अलौकिक चरित्र की रचना उन्होंने की वह थी शोभना, एक बाल विधवा ब्राह्मणकुमारी। इस चरित्र में मानवीय कोमलतम प्रेम की पराकाष्ठा की स्थापना करके एक आकर्षक चरित्र पूरा किया। सत्साहस, प्रत्युत्पन्नमति, सेवा, दया, धर्म, औदार्य और आत्मार्पण की प्रतिष्ठा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। एक शब्द में कहें तो इस बाल विधवा युवती को उन्होंने अपनी संपूर्ण सहृदयता से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया। जो स्त्री अपने अनन्य प्रेमी का सिर काट सकती है तथा धर्म और मानवता के शत्रु को अपना निश्च्छल प्यार अर्पित कर सकती है, खतरे में निशंक भाव से आगे बढ़ती जाती है उसको कितना प्यार दिया जाए और उसकी कितनी पूजा की जाए, पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं। इस उपन्यास में महमूद गजनवी को आंचल की छांह में चुपचाप गजनी रवाना कर दिया है।

महमूद का सच्चा चरित्र चाहे जो हो, वह एक दृढ़ योद्धा, आक्रान्ता और वीर पुरुष था। उसका जीवन कठिन अभियानों में बीता। लेखक यह भी मानता है कि भारत विभाजन की विभीषिका से प्रभावित होकर उसने सभी अत्याचारों का आरोप महमूद पर कर दिया है। शास्त्री जी ने महमूद गजनवी को महान विजेता, योद्धा और नियन्ता मानकर महमूद के सच्चे शौर्य और मानव तत्व को कई संदर्भों से उद्घाटित किया है। रमा देवी की बातचीत में, शोभना की मुलाकात में, सूर-सागर के तट पर तथा पीर की दरगाह में, उसके सम्पूर्ण मानव तत्व को कोमल तथा भावुक प्यार से ओत प्रोत करके उसे शोभना के आंचल में स्थान दिया है। महमूद के दुर्दान्त रक्त पिपासु रूप का वर्णन करने के साथ ही उसे सच्ची मानवता का बाना पहनाकर गजनी वापस भेजा है। शोभना के करुणांचल में बंधकर महमूद

वापस गया। यह सब इतिहास सम्मत न होने पर भी लेखक की कल्पना का एक सुन्दर निदर्शन है। यह सब करने के पीछे सम्भवतः लेखक की आदर्शवादिता ही काम करती रही। उन्होंने इस संदर्भ में सफाई देते हुए लिखा है – "मैं मानववादी हूँ। मनुष्य को मैं दुनिया की सबसे बड़ी इकाई समझता हूँ। मैं मनुष्य का पुजारी हूँ और मनुष्य मेरा देवता है, परन्तु मनुष्य मानवता नहीं। मानवता का मैं पुजारी नहीं। मानवता मानवीय श्रेष्ठ गुणों की भावना की प्रतीति कराती है। जो लोग मानवता के प्रेमी हैं वे धीर, वीर, उदात्त सच्चरित्र महापुरुष के पूजक है, किन्तु मैं नहीं। मैं केवल मनुष्य का पुजारी हूँ। वह मनुष्य जो घृणित, पापी, अपराधी, खूनी, डाकू, हत्यारा, लुटेरा, व्यभिचारी, कोढ़ी, गन्दे लोगों से आक्रान्त, मल-मूत्र से लथपथ या पागल है वही मेरा देवता है। उसमें जो यह कलुष है, उसका अपना नहीं है, नैसर्गिक नहीं है। उस पर ऊपर से लादा हुआ है। यह तो मेरा-पुजारी का-काम है उसे धो-पोंछकर, साफ शुद्ध कर पवित्र पूजनीय बनाए और अपना सम्पूर्ण प्यार और सेवा उसे अर्पित करे। जैसे – मलमूत्र से लथपथ अपने बच्चे को माँ करती है।"

सत्तरह बार भारत को तलवार और आग की भेंट करने वाला, लाखों बन्दियों को निरीह पशुओं की भाँति गजनी के बाजारों में बेचने वाला, दुर्दान्त लुटेरा महमूद जब लेखक के हाथ लगा तो उसके सब कुकृत्यों को धो-पोंछ कर एक कोमल भावुक और आतुर प्रेमी बनाकर प्रेम की प्रतिनिधि एक रमणी रत्न के आंचल में बांधकर उसे गजनी रवाना कर दिया। लेखक ने एक महिला शोभना के आंचल की छाया में उसे एक प्रेमी मानव बनाकर इस उपन्यास में प्रस्तुत किया। लेखक यह मानता है कि उसने महमूद के चरित्र-चित्रण में जो कुछ भी किया वह जान बूझकर किया है। इसी प्रकार चौला देवी जो इस उपन्यास की नायिका है, उसको भी अमल, धवल, कोमल, भावुक बनाकर इस उपन्यास के नायक भीमदेव के साथ विदा किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह उपन्यास इतिहासवृत्त की उपेक्षा करके लेखक की कल्पनाओं से रचित एक मोहक शैली की रचना है।

वयंरक्षामः

'वयंरक्षामः' उपन्यास को लेखक ने अतीत रस का उपन्यास माना है। अतीत रस से उनका तात्पर्य है उस युग की कथावस्तु के आधार पर घटनाओं का चित्रण करना जो इतिहास से भी पीछे प्रागैतिहासिक बन चुकी हैं। वे स्वयं लिखते हैं "मैंने प्राचीन आर्य संस्कृति और सभ्यता की विस्मृत बातों को इसमें मूर्त किया है। इस मूर्त कला में मैं अपने पर ही आधारित हूँ। मैं ही अपना आदर्श हूँ। मेरे अपने विचार हैं, भावना है, कल्पना है, मेरा अपना दृष्टिकोण है। वेद, ब्राह्मण, स्मृति, पुराण आदि से मिश्र मैसोपोटामिया, बैबीलोन, परशिया और यूनान के साथ

प्राचीन साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन है। देव, दैत्य, दानव, यक्ष, मानव, मत्स, गरुड़, वानर, महिष आदि इतिहासातीत जातियों की अब तक की अविश्रुत, विस्मृत सर्वथा नवीन, साधारण, असाधारण स्थापनाएं हैं। उसमें मुक्त सहवास है। बिवसन-विचरण है, हरण और पलायन है। शिशनोपासना है, वैदिक-अवैदिक का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। नर मांस की खुले बाजार में बिक्री है, नृत्य है, मद्य है, उन्मुख अनवरत यौवन है। अनहोने और सर्वथा अपरिचित तथ्य मेरे इस उपन्यास में है। जैसे आपका शिव मन्दिर में जाकर शिवलिंग पूजन अश्लील नहीं है उसी भाँति मेरा शिश्न देव भी अश्लील नहीं है। उसमें धर्म तत्व समावेशित है। फिर यह मेरा नहीं है, प्राचीन है, प्राचीनतम है, सनातन है। विश्व की देव-दैत्य, दानव-मानव आदि सभी जातियों का पूजन है। सत्य की व्याख्या साहित्यकार की निष्ठा है। उसी सत्य की प्रतिष्ठा में मुझे प्राग्वेदकालीन नृवंश जीवन पर प्रकाश डालना पड़ा। इसमें प्राग्वेदकालीन विविध नृवंशों के विस्मृत पुरातन रेखाचित्र है। धर्म के रंगीन चश्में से देखकर जिन्हें अन्तरिक्ष का देवता मान लिया था, मैंने उन्हें नर रूप में इस उपन्यास में पाठक के समक्ष उपस्थित करने का दुस्साहस किया है। **वयंरक्षामः** कहने भर को ही उपन्यास है। इसके द्वारा आज तक कभी मनुष्य की वाणी से न सुनी गई बातें मैं आपको सुनाने पर आमादा हूँ। व्याख्यायित तत्वों की विवेचना मुझे स्थान-स्थान पर करनी पड़ी है। मेरे लिए दूसरा मार्ग था ही नहीं। प्रत्येक तथ्य की सप्रमाण टीका बिना किए मैं अपना बचाव नहीं कर सकता था। अतः तीन सौ पृष्ठों से भी अधिक का भाष्य भी मुझे उपन्यास पर लिखना पड़ा है, अन्ततः मेरा परिमित ज्ञान इस अगाध इतिहास को सांगोपांग व्यक्त नहीं कर सकता था। संक्षेप में, मैंने सब वेद पुराण, दर्शन-ब्राह्मण और इतिहास के प्राप्त अवयवों को एक बड़ी सी गठरी में बाँधकर इतिहास रस की एक डुबकी दे दी है। सबको इतिहास रस में रंग कर अतीत रस की नई स्थापना की है।"

इस उपन्यास की कथावस्तु या चरित्र चित्रण के आधार पर समीक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु भाषा और भाव दोनों को ध्यान में रखते हुए यह कहना असंगत न होगा कि शास्त्री जी की यह विलक्षण रचना है। कथावस्तु प्राचीन तथ्यों या किंवदन्तियों पर केन्द्रित है और उसको प्रमाण पुष्ट बनाने का यदि कहीं लेखक ने अपने भाष्य में प्रयास किया भी है तो वह सर्वथा मान्य नहीं हो सकता। यदि किसी युग का इतिवृत इस उपन्यास में होता तो उस युग के भाव बोध और संवेदना के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालना सुगम होता, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रायः ऐसे कथानक इस उपन्यास में ग्रथित हैं जिनका कोई न तो ऐतिह्य है और न कोई परम्परा ही। अतः हम उसे अकल्पनीय कल्पना के खाते में डालकर उस पर पड़ी हुई धूल को हटाने का प्रयास नहीं करना चाहते।

इस उपन्यास की भाषा के संबंध में टिप्पणी करने से पहले मैं यह स्पष्ट कर

देना चाहता हूँ कि उपन्यास की भाषा खड़ी बोली हिन्दी होने पर भी अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके संस्कृत के समीप पहुँच जाती है। संस्कृतनिष्ठ होना कोई दोष नहीं है किन्तु पूरे के पूरे वाक्य, वाक्य ही नहीं, समूचा अनुच्छेद संस्कृत भाषा में लिख डालना बड़ा दोष ही माना जाएगा। यह उपन्यास अपनी मूल भाषा (खड़ी बोली) से हटकर स्थान-स्थान पर संस्कृतमय हो गया है। इस उपन्यास की कथावस्तु प्राचीनतम है, उसी भाँति उसकी शैली, भाषा, और भाव व्यंजनाएं सब कुछ संस्कृतनिष्ठ हैं। बहुधा असंस्कृत पुरुषों का कथोपकथन संस्कृत में कराया गया है। ग्रंथ का समर्पण-पत्र भी संस्कृत में है और इति (समाप्ति) समाप्ति व्याख्या भी संस्कृत में है। ग्रंथ की समाप्ति मन्दोदरी विलाप पर हुई है। यह विलाप भी संस्कृतमय है। इस प्रकार अभिव्यंजना की दृष्टि से हम इस उपन्यास को त्रुटिपूर्ण ही मानते हैं। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि वह भाषा के विषय में बहुत लापरवाह है। विचारों के प्रवाह में तेजी से जब लेखन प्रारंभ करता है तो भाषा भागती-दौड़ती, लड़खड़ाती, गिरती-पड़ती पीछे-पीछे चली आती है। इस विचित्र भाषा का नमूना नीचे के अनुच्छेद में देखा जा सकता है –

> "कज्जलकूट के समान गहन श्यामल, अनावृत उन्मुख यौवन, नीलमणि सी ज्योतिर्मयी बड़ी-बड़ी आँखें, तीखे कटाक्षों से भरपूर जिनमें मद्यसिक्त लाल डोरे, मदघूर्णित दृष्टि, कम्बुग्रीवा पर अधर धरे से गहरे लाल-लाल उत्फुल अधर, उज्ज्वल हीरकावलि-सी धवल दन्तपंक्ति, सम्पुष्ट प्रतिबिम्बित कपोल और प्रलय-मेघ-सी सघन गहन काली घुंघराली मुक्त कुन्तलावलि, जिनमें गुंथे ताजे कमल-दल-शतदल, कण्ठ में स्वर्णभार ग्रंथित गुंजामाल, अनावृत, उन्मुख, अचल यौवन-युगल निरन्तर आघात करती हुई मांसल अंसफलक, भुजाओं में स्वर्णवलय और क्षीण कटि में स्वर्ण मेखला, रक्ताम्बर मंडित सम्पुष्ट जघन नितम्ब, गुल्फ में स्वर्ण पैजनियाँ, उनके नीचे हेमतार सूत्र ग्रथित कच्छप धर्म उपानत आवृत चरण कमल। सद्यः किशोरी।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि शास्त्री जी ने इस उपन्यास में जो शैली अपनाई है वह बाणभट्ट की **कादम्बरी** के अनुकरण पर है। हिन्दी में समास पद्धति, विशेषण पद्धति तथा वाक्य विन्यास में सप्रयास जटिलता उत्पन्न करना लेखक का अभीष्ट है।

सोना और खून

यह उपन्यास लेखक के अपने जीवनानुभवों पर आधृत विच्छिन्न खण्ड कथाओं द्वारा निर्मित है। इस उपन्यास को लेखक ने ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यास माना है। यह तीन खंडों में प्रकाशित हुआ था। शास्त्री जी के देहावसान से तीन वर्ष पूर्व सन् 1958 में इसका अन्तिम खण्ड प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के विषय

में शास्त्री जी ने बड़ी स्पष्ट भाषा में इसके शीर्षक पर विचार व्यक्त किया है – "सोने का रंग पीला होता है और खून का सुर्ख। परन्तु तासीर दोनों की एक है। खून मनुष्य की रगो में बहता है और सोना उसके जीवन पर खतरा लाता है। पर आज के मनुष्य का मोह खून पर नहीं है सोने पर है। वह एक-एक रत्ती के लिए अपने शरीर की एक-एक बूंद बहाने पर आमादा है। जीवन को सजाने के लिए वह सोना चाहता है। आज के सभ्य समाज का सबसे बड़ा कारोबार सोना है। सबसे बड़ा लेन-देन सोना है। खून देना और सोना लेना। उपन्यास के शीर्षक की व्याख्या में यही तथ्य उजागर किया गया है।"

इस उपन्यास में लेखक ने अंग्रेज़ों के भारत आगमन से लेकर वापस लौट जाने तक की कहानी को दस खण्डों में लिखने का संकल्प किया था। किन्तु तीन खण्ड लिखने के बाद वे अस्वस्थ हो गये और अपना संकल्प पूरा नहीं कर सके। ब्रिटिश इंडिया कम्पनी के जमाने में अंग्रेजों ने भारत से सोना ले जाने के लिए जो उपाय और अत्याचार किए, वे 'खून' अंश में वर्णित है। उपन्यास की भाषा-शैली प्रसाद गुण युक्त है। वर्णन भी रोचक और रोमांटिक हैं। उपन्यास के लेखन में इतिहास से सहायता अवश्य ली गई है किन्तु कल्पना के द्वारा वर्णन को संवेदनीय बनाने के लिए मनुष्य के मन के द्वन्द्व और संघर्ष का चित्रण ही अधिक किया है। पंडित सुन्दर लाल लिखित 'भारत में अंग्रेजी राज' पुस्तक की झलक भी इसमें है, जो उस समय एक चर्चित पुस्तक थी।

गोली

उनके चर्चित उपन्यासों में 'गोली' शीर्षक उपन्यास भी रोचकता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह उपन्यास धारावाहिक रूप से साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ था। लोकप्रियता के स्तर पर 'गोली' उपन्यास की गणना उस समय के पठनीय उपन्यासों में की जाती थी। इस उपन्यास में शास्त्री जी ने कुछ ऐसे वर्णन प्रस्तुत किए हैं जो राजघरानों की अनहोनी घटनाओं से संबंध रखते हैं। यद्यपि शास्त्री जी ने इस उपन्यास को स्वानुभूत तथ्यों के आधार पर लिखने की बात कही है। यह कथावस्तु के आधार पर भले ही कुछ अंश में तथ्यात्मक हो, किन्तु इसमें लेखक की कल्पना की उड़ान ही अधिक लक्षित होती है। भाषा को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए अपने अनुभवों को यथार्थ की भूमि पर अवस्थित कर दिया है। कल्पना का अतिरेक उसमें है, किन्तु कहानी के केन्द्र में कोई घटना रहती है, जो उसे सम्प्रेषणीय बनाती है। शास्त्री जी को चिकित्सक के रूप में उस समय के राजघरानों तथा सेठ साहूकारों के भवनों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्होंने जो कुछ वहाँ देखा, सुना और समझा, उसे घटना का रूप देकर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व से संश्लिष्ट कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जिस समय

INSTITUTE OF ADVANCED ... Acc. No. 94867

यह उपन्यास धारावाहिक रूप से "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में छप रहा था उन दिनों इसके पाठक इसके घटनाचक्र तथा रोमांचक शैली पर मुग्ध होकर इसकी प्रशंसा करते थकते न थे। शास्त्री जी भी **'वैशाली की नगर वधू'** के बाद **'गोली'** उपन्यास को अपने बहुचर्चित एवं प्रिय उपन्यासों में गिनते थे।

खग्रास शीर्षक उपन्यास को शास्त्री जी ने हिन्दी का सर्वप्रथम वैज्ञानिक उपन्यास कहा है। नक्षत्र मंडल की चर्चा मात्र से हम इसे पूर्ण रूप से वैज्ञानिक उपन्यास तो नहीं कह सकते किन्तु यह अवश्य मानना होगा कि उस समय तक 'चन्द्रलोक की यात्रा' जैसा विषय प्रकाश में नहीं आया था। इस उपन्यास में कल्पना के आधार पर शास्त्री जी ने इसका संकेत किया है।

कहानी

शास्त्री जी ने कहानी क्षेत्र में अपनी युवावस्था में ही प्रवेश कर लिया था। प्रारम्भ में **'अंबपाली'** शीर्षक उनकी कहानी बहुत प्रसिद्ध रही। किशोरी लाल गोस्वामी हिन्दी के श्रेष्ठ कहानीकार माने जाते थे, उन्होंने **'अंबपाली'** कहानी की प्रशंसात्मक शब्दों में सराहना की है। चालीस वर्ष पहले शास्त्री जी की कुछ कहानियाँ, जैसे **'दुखवा मैं कासो कहूँ मेरी सजनी'**, **'कैदी'**, **'आदर्श बालक'**, **'सोया हुआ शहर'** आदि अनेक कहानियाँ पाठ्य-पुस्तकों में रहती थीं किन्तु आधुनिकता बोध ने उन्हें अस्पृश्य बनाकर छोड़ दिया है। कुछ आलोचकों ने उनकी प्रसिद्ध कहानियों पर छायानुकृति का दोषारोपण भी किया है। **'दुखवा मैं कासो कहूँ मोरी सजनी'** को एक बंगला कहानी का रूपांतरण ठहराने का प्रयास भी हुआ किन्तु इस आरोप का उच्छेद इसी से हो जाता है कि शास्त्री जी बंगला भाषा नहीं जानते थे और यह कहानी उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से है। शास्त्री जी ने अपने जीवन में लगभग चार सौ कहानियाँ लिखीं। कहानी लेखन के संदर्भ में यह एक रिकार्ड है। उनकी कहानियों में इतना अधिक विषय वैविध्य है कि उसे देखकर उनकी बहुमुखी प्रतिभा पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, ग्रामीण जीवन, कस्बाई जीवन और शहरी जीवन आदि सभी क्षेत्रों में कहानी के माध्यम से शास्त्री जी विचरण करते रहे। कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक भी हैं किन्तु उनमें इतिहास का रंग तो नाम मात्र को ही है, कल्पना के सम्मिश्रण से इतिहास ढक गया है। शास्त्री जी की इच्छा थी कि अपनी कहानियों पर फिल्म बनवाई जाए इसी इच्छा को लेकर एक बार वे पृथ्वीराज कपूर के पास बम्बई पहुंचे थे। हैदराबाद की एक मुस्लिम महिला ने उन्हें एक लाख रूपया फिल्म बनाने के लिए दिया था। किन्तु बम्बई में उन्हें अपनी अंटी की रकम भी छिनती दिखाई दी। फिल्म नगरी के प्रपंची माहौल से वे परिचित नहीं थे। जैसे-तैसे बचकर निकल आए और जान बची और लाखों पाए का मुहावरा याद कर प्रसन्न होते रहे, किन्तु फिल्म न बना सके।

नाटक

शास्त्री जी ने एक दर्जन के लगभग नाटक तथा एकांकी लिखे जिनमें से चार-पाँच नाटकों में राजपूत राजाओं के शौर्य प्रदर्शन के साथ मुस्लिम आक्रान्ताओं को क्रूर, कपटी, हिंसक, अत्याचारी और गर्हित चित्रित किया है। इस चित्रण में उन्होंने इतिहास को आधार न बनाकर अपनी मान्यताओं को ही प्रमुख स्थान दिया है। **राजसिंह, छत्रशाल, अमरसिंह, उत्सर्ग** और **क्षमा** शीर्षक नाटकों में इस प्रकार के चरित्र पाए जाते हैं। इन नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने आठ-दस एकांकी नाटक भी लिखे किन्तु अभिनय के अभाव में उनको साहित्यिक संदर्भ में कहीं स्थान नहीं मिल सका।

उनके एकांकी नाटक भी लोकप्रिय न होने का कारण यह था कि उस समय हिन्दी एकांकी नाटक अपनी नवीन शैली के साथ स्थापित हो चुका था। रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उपेन्द्र नाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, उदयशंकर भट्ट आदि एकांकीकारों के एकांकी तकनीकी दृष्टि से लोकप्रियता के निकष पर सफल हो रहे थे। उनका मंचन भी प्रारम्भ हो गया था। चतुरसेन जी ने एकांकी लिखना बाद में शुरू किया किन्तु एकांकी नाटक की विकसित होती हुई नई तकनीक को ग्रहण नहीं किया था। उनका अभिनय करना भी मंच-सज्जा आदि की दृष्टि से कठिन था। पराक्रमी योद्धाओं के घोड़े, रथ आदि का प्रयोग अभिनय की दृष्टि से कठिन था। प्रकाश-प्रक्षेपण आदि की दृष्टि से भी उनके नाटक सफल नहीं कहे जा सकते। अतः उनका यथोचित प्रचार-प्रसार नहीं हो सका और उन्हें एकांकी साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

गद्यकाव्य

गद्यकाव्य के क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रेरणा उन्हें अपने मुस्लिम मित्र हाजी मुहम्मद अल्लाह रखिया शिवली से मिली। उस मैत्री से शास्त्री जी अपने युग की राजनैतिक समस्याओं से हटकर मानव मन के रेखाचित्र गढ़ने में लग गए। उन्होंने **'हृदय की परख'** नाम से जो उपन्यासिका लिखी, वह गद्यकाव्य की शैली में ही थी। **'हृदय की परख'** काफी लोकप्रिय रचना बनी और उसे ललित शैली की उत्कृष्ट रचना माना गया। उसे लिखने के बाद उनके मन में दिन-रात लिखने की बेचैनी रहने लगी। वे स्वयं लिखते हैं – "उन दिनों मैं साहस का पुतला बना हुआ था। दिन भर मरीजों को देखने और दवाइयों के बनाने में बीतता था और रात देर तक साहित्य सर्जन में। मेरी कलम सरपट दौड़ने लगी थी। मेरा क्षात्र तेज और ओज मेरी लेखनी की नोक से कागज़ों पर उतरता रहता था। इन्हीं दिनों लोकमान्य तिलक और गाँधी जी के राजनैतिक विचारों से मेरी स्वतंत्र विचारधारा टकराने लगी और मैंने अपनी लौह-लेखनी का अप्रतिम चमत्कार तूफानी ग्रंथ सत्याग्रह

और असहयोग लिख डाला। **सत्याग्रह और असहयोग** के प्रकाशित होते ही राजनीतिक पुरुषों ने उन्हें गीता की भाँति पढ़ा। यह ग्रंथ कुछ मास बाद अंग्रेज सरकार द्वारा जप्त कर लिया गया। इस समय मेरी कलम देश, धर्म, राष्ट्र, जाति और समाज को अतिक्रान्त कर रही थी।" उसी समय हिन्दी में गद्यकाव्य की प्रथम रचना **'अन्तरस्तल'** की सृष्टि हुई। उन्हें उस समय ऐसा लग रहा था कि साहित्यकार को देशभक्ति और राष्ट्रीयता से पृथक उस संसार में रहना चाहिए जहाँ मानव आत्मा स्वच्छन्द विचरण करती है। जहाँ देश, धर्म, जाति, समाज, काल का कोई भी व्यवधान नहीं है। जहाँ मानव-मन बुद्धि और भावना का सहारा लेकर मानव-मन से मिलता है। जहाँ एक मन से दूसरे मन में, एक काल से दूसरे काल में, देशकाल धर्म का कुछ भी विचार न कर मनुष्य के हृदय में अखंड एक्य की प्रतिष्ठा करता है। मेरा मन अब ऐसी रचना प्रस्तुत करने को आकुल-व्याकुल हो उठा। इसी भावना ने अन्तस्तल की रचना करने की प्रेरणा मुझे दी। मैंने सबसे पहले लिखा **'अनुताप'** फिर **'रूप'** और उसके बाद **'दुख'**। अन्तस्तल किसी अज्ञात शक्ति ने मेरे हाथों लिखा दिया जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहला गद्यकाव्य था।" उसके भिन्न-भिन्न स्थानों से अनेक संस्करण निकले। श्री पद्म सिंह शर्मा ने उस पर भूमिका लिखी और अन्तस्तल काफी अरसे तक विश्वविद्यालयों में एम. ए. में पाठ्य-पुस्तक रही। साहित्य की इस विधा से शास्त्री जी ने भरी जवानी में विदा ली थी किन्तु जब तक वे जिए साहित्य, संस्कृति, कला और सौन्दर्य के संसार में आंसू और हास्य बिखेरते रहे। उनका एक गद्यकाव्य **'चित्तौड़ के किले में'** शीर्षक से प्रताप में छपा था। चित्तौड़ के किले को देखकर मन में जो भाव और विचार उत्पन्न हुए उन्हीं को गद्यकाव्य का रूप दे दिया। **स्वदेश** शीर्षक से भी एक गद्यकाव्य लिखा था। वह भी 'प्रताप' में छपा। उसी समय **'माँ गंगी'**, **'अनूप शहर के घाट पर'** शीर्षक से गद्य काव्य लिखे। इस प्रकार गद्यकाव्य लिखने का यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा। शास्त्री जी ने अपने जीवन में सात गद्य-काव्य विषयक पुस्तकें लिखी जिनमें प्रेम, सौन्दर्य, आसक्ति, आवेग, संवेग और मनोभावों को व्यक्त करने वाली सुन्दर सूक्तियाँ विद्यमान हैं। अभिव्यंजना की दृष्टि से उनके गद्यकाव्य प्रांजल और प्रसादगुण युक्त होने के कारण पाठक के लिए आकर्षण का केन्द्र बने। भावुकता और रूमानियत भी उनमें प्रचुर मात्रा में पाई जाती है।

शास्त्री जी ने अपने जीवन में मासिक-पत्र के संपादन का कार्य भी किया था। उनके संपादन में दो अंक प्रसिद्ध है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र **'चाँद'** के दो विशेषांकों का उन्होंने बड़े परिश्रमपूर्वक संपादन का कार्य किया। 'चाँद' का **फाँसी** अंक भारत के उन बलिदानी पुरुषों का जीवन चरित प्रस्तुत करता है जो देश की बलि वेदी पर अपनी बलि देकर देश को स्वतंत्रता का सन्देश

सुना गये। अपने समय में **'फाँसी'** अंक की हवा चतुर्दिक व्याप्त हो गयी थी। अंग्रेज शासक उस अंक की सामग्री से विचलित हो उठे और उन्होंने उसे जब्त कर लिया। फाँसी अंक के दो उद्देश्य थे – देश प्रेमी बलिदानी व्यक्तियों का परिचय कराना तथा दूसरा उद्देश्य था जन-जागरण के साथ जनता में देश-प्रेम की भावना उत्पन्न करना। इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति फाँसी अंक ने की थी। "चाँद" का दूसरा विशेषांक था **मारवाड़ी** अंक। चतुरसेन जी ने राजस्थान में, बम्बई और कलकत्ते में मारवाड़ियों के बीच रहकर जो देखा, सुना और समझा था उसे अनेक घटनाओं के आधार पर अपनी सशक्त शैली में प्रस्तुत किया था। सभी लेख उन्होंने स्वयं नहीं लिखे थे। दूसरे भुक्त-भोगी लोगों के लेख भी उसमें संकलित किए थे। मारवाड़ी समाज में इस अंक के प्रकाशित होते ही इसके विरुद्ध विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। उच्च वर्ग के मारवाड़ी सेठों ने इसका विरोध किया और इस अंक की सामग्री को जब्त कराने का भी प्रयास किया। इस अंक की सामग्री तथ्यपरक थी, इसलिए इसे पाठकों ने रोचकता के साथ ग्रहण किया और लोकप्रियता की दृष्टि से यह अंक उस समय अपनी धाक जमा सका। "चाँद" के इन दोनों विशेषांकों के कारण चतुरसेन जी की संपादन कला और शैली-सौष्ठव की चतुर्दिक प्रशंसा हुई। यह बात भी पाठक के सामने आई कि सम्पादक चतुरसेन एक निर्भीक और लौह लेखनी के धनी व्यक्ति हैं। उसी समय से यह विशेषण भी इनके नाम के साथ जुड़ गया था।

पद्यात्मक रचनाएं

आचार्य चतुरसेन ने सर्जक रूप में अपने बाल्यकाल और प्रारम्भिक स्कूली जीवन में कुछ पद्यात्मक रचनाएं लिखी थीं, उनमें भाव और भाषा की दृष्टि से सौष्ठव नहीं है। स्वरचित कविताओं को उन्होंने प्रकाशित कराने का कोई उपक्रम नहीं किया। प्रायः उनकी सभी कविताएँ, उनकी डायरी और कापियों में बिखरी मिलती है। यह संकेत यहाँ इसलिए किया जा रहा है ताकि उनकी रुचि का बोध हो सके। उनकी कविता का क्षेत्र प्रायः उपदेशात्मक था। कभी-कभी वे पद्यात्मक पत्र भी लिखा करते थे। इन पत्रों की भाषा संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली ही होती थी। अपने मित्र पंडित छोटे लाल को उन्होंने 1910 ई० में जो पत्र लिखा था उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

प्रणय पियूष निधेष आनन्द मोदप्रद पंडित प्रवर,
श्रीयुत छोटे लाल बाचऊ में नमः सविनय प्रवर।

बी. ए. पास एक युवक का चित्र उन्होंने अपने कवित्त में इस प्रकार किया है–

अकड़के चलेगें तो कहेंगे लोग अकडू है,
इसीलिए कमर कमान सी झुकाई है।

आँखों पर रिझती ही रहे मिस,
इसीलिए सोने की कमानीदार ऐनक चढ़ाई है।
कोट सूट बूट से सुहावना शरीर ढाँप,
सभ्यता की शान लेडियों में दर्शायी है।
जीवन की सांध पूजी बी. ए. पास हुए पर,
किस्मत के खेल देखो नौकरी न पाई है।

आचार्य जी ने अतुकान्त रचना में कई कविताएं लिखी थीं। गाँधी जी के महाप्रयाण पर भी एक लम्बी कविता अतुकान्त शैली में ही लिखी थी। अपने शैशव की मधुर स्मृतियों को समेटने के लिए उन्होंने एक बहुत लम्बी पद्यात्मक कविता लिखी थी। छः पृष्ठों में तिलक जी लाल लाजपतराय और मोतीलाल नेहरू पर भी उन्होंने शोक-गीत की शैली में लम्बी कविताएं लिखीं। इन कविताओं का निर्देश हमने उनकी रुचि का संकेत देने के लिए किया है। आचार्य जी को संगीत का भी शौक था और अवकाश के समय हारमोनियम पर देर तक पक्के राग अलापा करते थे। इसी संगीत-प्रेम ने उन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा दी थी किन्तु संगीत और काव्य उनकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र नहीं थे। इसीलिए उन्होंने इन क्षेत्रों में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया।

आत्मकथा

आचार्य चतुरसेन की आत्मकथा को **"मेरी आत्म कहानी"** शीर्षक से उनके मरणोपरान्त उनके भाई चन्द्रसेन ने प्रकाशित किया था। इस आत्मकहानी की कड़ियों को जोड़ने में चन्द्रसेन का योग रहा है। आचार्य जी ने अपने जीवन काल में अपनी आत्मकहानी के विषय में जो सामग्री संकलित की थी उसका उपयोग इस आत्मकहानी में किया गया है। अपनी पैंसठवीं वर्षगांठ पर उन्होंने उस आत्मकथा का 'आत्मनिवेदन' लिखा था। उसमें उन्होंने यह माना है कि मैं सारे जीवन अभावग्रस्त रहा। इस अभाव के समुद्र में शाश्वत रूप से डूबते रहने के कारणों का इस आत्मकथा में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। अपनी आत्मकथा का प्रारम्भ उन्होंने निसंग भाव से किया है। यह निसंग भाव उनके मन में बसे हुए नैराश्य भाव का ही उद्‌गार है। इस आत्मकहानी का पहला वाक्य ही उनकी मनः स्थिति का द्योतक है।

"मैं एक आहत, किन्तु अपराजित योद्धा हूँ। अपने चिरजीवन में मैंने सब कुछ खोया है – पाया कुछ भी नहीं। मैंने एक भी मित्र जीवन में नहीं उत्पन्न किया। आज जीवन की संध्या में मैं अपने को सर्वथा एकांकी, असहाय और निसंग अनुभव करता हूँ। मेरी दशा उस मुसाफिर के समान है जो दिन भर निरंतर मंजिल काटता रहा हो और निर्जन राह ही में सूर्य अस्त हो गया हो, वह बेसरोसामान थक कर

राह के एक वृक्ष के सहारे रात काटने पड़ गया हो।"

इस आत्मकहानी में लगभग पचास पृष्ठ अपनी जन्मभूमि, गाँव, माता-पिता, स्कूल के संगी-साथी और शिक्षा-स्थलियों का वर्णन है। उसके बाद अपने प्रथम विवाह तथा जीविकोपार्जन के निमित्त अजमेर तथा दिल्ली चिकित्सालयों की विचित्र घटनाएं लिखी गई हैं। तदन्तर अपनी विशिष्ट रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है। बीच-बीच में कुछ ऐसे व्यक्तियों के शील स्वभाव पर लेखक ने लिखा है जो उनके संपर्क मे आए थे। उन्होंने भारतीय औषध निर्माण नियंत्रण बोर्ड अधिनियम (बिल) तैयार किया था जो इस पुस्तक में पूरा प्रकाशित है। संपादक चन्द्रसेन ने शास्त्री जी के राजनैतिक और साहित्यिक विचार भी इस आत्मकहानी में अपनी ओर से जोड़ दिए हैं। यह आत्मकहानी तिथिक्रम या घटनाक्रम के आधार पर नहीं लिखी गई है। विशृंखल रूप से जो घटनाएं स्मृति में उभरती रही उन्हें तिथिक्रम की चिन्ता किए बिना लिख दिया गया है। इतना अवश्य है कि पाठक इस आत्मकहानी को पढ़ते समय ऐसे विचित्र व्यक्ति से परिचित होता जाता है जो साहित्य के साथ जीवन संघर्ष के घात-प्रतिघात सहता हुआ कन्टकाकीर्ण पगडंडियों पर चलता रहा है। उनकी रचनाओं का भी इस आत्मकथा में परिचय है जो आत्मप्रशंसामूलक ही कहा जाएगा। शास्त्री जी आत्मकहानी लिखते समय प्रायः यह विस्मृत कर बैठे हैं कि जिस व्यक्ति के विषय में यह कहानी लिखी जा रही है, उसके नायक वे स्वयं हैं। इस आत्मकहानी को पढ़ते समय पाठक को ऐसा लगता है मानो वह आचार्य जी के किसी मित्र से उनका स्तुतिगान सुन रहा हो। एक दुसरी त्रुटि जो पाठक अनुभव करता है, वह यह कि शास्त्री जी ने आरम्भ के साठ पृष्ठों को छोड़कर अगले चार सौ पृष्ठों में अपने युग का कोई प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत नहीं किया। आत्मकथा व्यक्ति केन्द्रित ग्रंथ होने पर भी युगनिरपेक्ष नहीं होती। शास्त्री जी की जीवन यात्रा में तीन ऐसे बड़े पड़ाव हैं जिनका वर्णन इस आत्मकथा मे अपेक्षित था। पहला पड़ाव आर्यसमाज के सामाजिक सुधार कार्य अथवा नवजागरण का था, दूसरा पड़ाव तत्कालीन स्वतंत्रता संग्राम का था जिसमें महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन, भगतसिंह आदि क्रांतिकारियों के अंग्रेज़ी शासन के प्रति विद्रोहात्मक कार्य तथा तीसरा पड़ाव स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत का लोकतांत्रिक रूप में परिवर्तन। 26 जनवरी 1950 को भारत विश्व का सबसे बड़ा गणतन्त्रात्मक राष्ट्र बना। भारतीयों के मन में स्वराज्य प्राप्ति के बाद सुख शांति और अमन चैन की भावना बन रही थी जो धीरे-धीरे मोह भंग में परिवर्तित हो गई। इस मोह भंग पर भी शास्त्री जी ने कोई सार्थक टिप्पणी अपनी आत्मकथा में नहीं की है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके सत्तर वर्ष के जीवनकाल में इस देश में जो कुछ घटित हुआ, उस पर प्रकाश डालने या उन परिस्थितियों का विश्लेषण करने का कोई उपक्रम उनकी आत्मकहानी में नहीं है।

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास आचार्य चतुरसेन शास्त्री का एक बहुमूल्य कार्य है। इसके संबंध में शास्त्री जी का दृष्टिकोण उनके अपने शब्दों में इस प्रकार है – "इस ग्रंथ में मैंने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्रायः सब हिन्दी इतिहास लेखकों की प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके अपने कुछ नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण निर्धारित किए हैं और उनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि की रेखाएं दी हैं।" इस ग्रंथ को मौलिक बनाने के लिए उन्होंने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए कुछ नवीन सामग्री का चयन भी इस ग्रंथ में किया है।

यह इतिहास सात खंडों में विभाजित है। पहले खण्ड में भाषा और लिपि पर विचार किया गया है। इसी खण्ड के तीसरे अध्याय में लिपि के विकास का वर्णन करते हुए आचार्य जी ने आज से सैंतालीस वर्ष पूर्व लिपि का महत्व बताते हुए नागरी लिपि-सुधार, हिन्दी टाइपराइटर, द्रुतलिपि (शार्टहैंड) आदि विषयों पर भी विचार व्यक्त किए हैं। इसके चौथे अध्याय में ध्वनि और उसके रूपों की विवेचना की गई है। दूसरे खण्ड में साहित्य की परिभाषा, साहित्य और ऐतिहासिक रस जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। तीसरा खण्ड अपभ्रंश युग से प्रारम्भ करके निर्गुण सूफी साहित्य, कृष्णभक्ति, रामभक्ति, सगुणभक्ति तथा रीतिकाल, मुगल दरबार के कवि, चतुर्थ खण्ड में आंगल प्रभाव काल, उर्दू की बोली रेखता और उस समय के कवि वर्णित हैं। उर्दू का हिन्दी से पृथककरण भी इसी खण्ड में लिखा गया है। तदन्तर हिन्दी गद्य के चार उन्नायकों का वर्णन किया गया है। उसी में स्वामी दयानन्द सरस्वती और समाचार पत्रों का प्रकाशन आदि भी वर्णित है। पांचवे खण्ड में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी के गद्य निर्माता के रूप में उनके तथा उनके साथियों का वर्णन है। छठे खण्ड को द्विवेदी युग की संज्ञा दी गई है और उस समय के गद्य-पद्य निर्माता साहित्यकारों का वर्णन मिलता है। सप्तम् खण्ड को नवयुग शीर्षक से लिखा गया है जिसमें की इस काल की साहित्यिक विधाओं को शास्त्री जी ने विस्तार से लिखा है। इस इतिहास की एक विशेषता यह है कि इसकी भूमिका बड़े विस्तार के साथ श्यामबिहारी मिश्र और सुखदेव बिहारी मिश्र ने लिखी है। मिश्र बन्धुओं ने अपनी भूमिका में उस समय तक प्रकाशित प्रायः सभी ग्रंथों को सामने रखकर उन पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कई मान्यताओं का खण्डन करते हुए उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि – "आचार्य चतुरसेन के इतिहास में जो सामग्री एकत्र की गई है, नई होने के साथ प्रामाणिक है। आचार्य चतुरसेन ने गहन अध्ययन और अन्वेषण के बाद इस इतिहास को लिखा है। आचार्य जी की भाषा की बहार और विशेष विवेचना का सामर्थ्य इस इतिहास के सातवें और छठें खण्ड

के सिंहावलोकन में तुलसी, सूर और मुगलकालीन पृष्ठभूमि की स्थापना में एवं विचारों की प्रौढ़ता का उपसंहार की पंक्तियों में दर्शन किया जा सकता है। उनके मनोरम गद्यकाव्य की छटा नवयुग के छायावादी और रहस्यवादी कवियों के वर्णन में देखी जाती है तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण की गहराई, मुगलकालीन विवरण, त्रिविध प्रभावकाल की स्थापना, आंग्ल प्रभाव, गाँधी प्रभाव एवं मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔध पर विशिष्ट दृष्टि के अध्ययन से प्रकट है। साहित्यकारों को विविध उपाधि विभूषित करना तथा रीतिकालीन कवियों का नयी शैली से वर्गीकरण करना स्तुत्य है।"

इस इतिहास में कुछ बातें और इतिहासों से भिन्न शैली में मिलती हैं। जीवनवृत्त लिखने में पर्याप्त सावधानी बरती गई है। आधुनिककालीन साहित्यकारों के दुर्लभ चित्र भी इस इतिहास में हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कुछ ऐसे कवियों का भी समावेश किया है जिनका नाम उस समय के प्रकाशित साहित्य के इतिहासों में नहीं है। शास्त्री जी ने औरंगजेब को हिन्दी कवियों में स्थान दिया है। स्वयं औरंगजेब हिन्दी में पद्यरचना करता था और उसने अपने शहजादा आलमशाह को हिन्दी की अच्छी शिक्षा दिलाई थी। यह शहजादा ब्रजभाषा का बड़ा प्रेमी था। इसे पढ़ाने के लिए मिर्जा खां ने – **"तोह फोतुलहिन्द"** नामक पुस्तक लिखी थी जो ब्रजभाषा के व्याकरण की पुस्तक है। उस पुस्तक में लिखा है – (हिन्दी रूपान्तरण) ब्रजवासियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे चन्दवार आदि वह भी शिष्ट गिना जाता है। चन्दवार एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित प्रान्त है क्योंकि इसी ब्रज भाषा में प्रियतमा की प्रशंसा सरल एवं अलंकृत रूप में की गई है तथा वही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है इसलिए इसके व्याकरण की रचना की जाती है।" इससे इतना जरूर सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा उस समय देश की भाषा थी। अरबी, फारसी तुर्की आदि भाषाएं विदेशी भाषाएं थीं। शहजादा आलम खाँ ने भी ब्रजभाषा में कुछ रचनाएं की थी। **'संगीत राग कल्पद्रुम'** में औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके शहजादे मोजम शाह शाहेआलम बहादुरशाह के नाम से तख्त पर बैठे। वे संगीत और संस्कृत प्रेमी थे। मुहम्मद शाह के बाद उसका पुत्र आमद शाह गद्दी पर बैठा उसने भी हिन्दी में रचनाएं कीं। अपने इतिहास में शास्त्री जी ने अन्तिम बादशाह जफर तक की रचनाओं को उद्धृत किया है। आधुनिक काल से पूर्व का गद्य प्रायः साहित्य के इतिहास ग्रंथों में प्रस्तुत नहीं किया जाता किन्तु शास्त्री जी ने उस समय के गद्य लेखक साहित्यकारों का भी विस्तार से परिचय दिया है। इसी संदर्भ में रेख्ता का शब्दार्थ होता है पड़ी हुई, पड़ी हुई को खड़ी करने से खड़ी बोली कहलाई। किन्तु रेख्ता का दूसरा अर्थ भी है "मिश्रित भाषा।" एक छन्द का नाम भी रेख्ता है। कहीं कहीं दक्षिणी हिन्दी को भी रेख्ता कहा गया है। मिर्जा गालिब ने अपने

दीवान को रेख्ता का दीवान कहा है। वास्तव में यह मिश्रित भाषा ही थी।

रेख्ता के संबंध में हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में पर्याप्त जानकारी नहीं दी गई है। शास्त्र जी ने अपने इतिहास में एक दर्जन से अधिक कवियों का उल्लेख किया है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ में हिन्दी का जो वंश-वृक्ष दिया है उसको शास्त्री जी ने स्वीकार ही नहीं किया, अपितु उसकी नई जानकारी भी प्रस्तुत की है। गार्सा दा तासी ने सन् 1840 में हिन्दुस्तानी साहित्य का एक इतिहास लिखा और सन् 1852 में अपने एक भाषण में कहा था "हिन्दी और उर्दू एक ही जबान की दो शाखाएं हैं। मुश्किल यह आ पड़ी है कि इस मसले पर जब बहस की जाती है तो महज पद-योजना पर गुफ्तगू नहीं होती बल्कि समझा जाता है कि हिन्दी हिन्दू धर्म की नवाँबंद है।" शास्त्री जी ने इन सब तथ्यों पर बड़ी गहराई से प्रकाश डाला है। इसाईयों की हिन्दी सेवा पर भी इस इतिहास में पर्याप्त सामग्री एकत्र की गई है। उन्होंने 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी स्कूलों के बारे में भी जानकारी प्रस्तुत की है। ऐसी जानकारी हिन्दी के किसी अन्य इतिहास ग्रंथ में नहीं है। राजा शिव प्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह के भाषा विषयक विवाद का भी अच्छा परिचय इस इतिहास में मिलता है। आज से सवा सौ वर्ष पूर्व हिन्दी प्रचार के लिए जो आन्दोलनात्मक कार्य हुए, उनका विवरण भी इस इतिहास में विस्तार से लिखा गया है।

हिन्दी समाचार पत्रों का विवरण भी उनकं इतिहास से उपलब्ध होता है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, और प्रगतिवाद-युग के प्रारम्भ तक का इतिहास, इनकी रचना में उपलब्ध होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह इतिहास ग्रंथ सूचना के स्तर पर बहुत उपयोगी है। कहीं-कहीं पर लेखक ने अतिशयोक्ति का सहारा लेकर तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर भी प्रस्तुत किया है। इतिहास में इस प्रकार की तथ्यात्मक संरचना भ्रामक सिद्ध होती है। शास्त्री जी ने स्वेच्छा से इस प्रकार के वर्णन अपने इतिहास में किए हैं जो कि शुद्ध इतिहास के निकष पर खरे नहीं माने जा सकते। जहाँ तक सामग्री संकलन का प्रश्न है यह इतिहास प्रचुर मात्रा में अध्येताओं को सामग्री प्रदान करता है। इस इतिहास की रचना शास्त्री जी ने भारत के स्वतंत्र होने के दो वर्ष पूर्व की थी और इसका प्रकाशन सन् 1946 में मेहरचन्द लक्ष्मण दास नामक प्रकाशन संस्था ने लाहौर से किया था। भारत-विभाजन के बाद इतिहास की समस्त प्रतियाँ प्रकाशक महोदय लाहौर से दिल्ली नहीं ला सके। इसलिए इस इतिहास ग्रंथ की जानकारी भारत वर्ष के हिन्दी सेवी साहित्यकारों और अध्यापकों तक नहीं पहुँच सकी। यदि इस इतिहास की दुर्लभ सामग्री उस समय हिन्दी के इतिहास लेखकों को सुलभ हो जाती तो बहुत से तथ्य उजागर हो जाते।

तृतीय अध्याय

राजनीतिक साहित्य

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का रुझान और जीविका की प्रवृत्ति दोनों में प्रारम्भ से ही संघर्ष चलता रहा था। फुटकर लेख लिखते समय इनका ध्यान प्रायः साहित्यिक विषयों की ओर ही रहता था। कथा, कहानी लिखने में भी इनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। **'हृदय की परख'** उपन्यास लिखकर इन्होंने साहित्य प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया था। उसी समय देश के राजनीतिक क्षितिज पर मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का उदय हुआ था। असहयोग आन्दोलन और सत्याग्रह इन दोनों से जनजागरण का कार्य गाँधी जी प्रारम्भ कर चुके थे। उसी समय चतुरसेन ने अपना एक चमत्कारी ग्रंथ **सत्याग्रह और असहयोग** लिखा था। इस ग्रंथ से ही वस्तुतः उनका राजनीतिक लेखन प्रारम्भ हुआ। उनकी एक प्रसिद्ध राजनीतिक कृति **'21 बनाम 30'** सन् 1930 में छपी थी। इस पुस्तक की भूमिका में इन्होंने लिखा था – "सन् 1921 का महायोग आया और चला गया। भारत के दुद्धर्ष दुर्भाग्य ने उसे हमारे जागृत होने से प्रथम ही मार भगाया। तब से अब तक दस वर्ष का समय हमने जागृति और आत्मबोध की चेष्टा में व्यतीत किया। आत्मबोध हमें हुआ और आज जब सन् 30 का प्रथम प्रभात उदय हुआ तो हम जागृत होकर सच्चे युवक की भाँति अपनी उस सामूहिक अभिलाषा को धैर्य और वीरता से प्रकट कर सके जो हमारे चरम आत्मबलिदान से ओत-प्रोत है।

सन् 1934 में बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन कई कारणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इस अवसर पर चतुरसेन शास्त्री ने एक राजनीतिक पुस्तक **'पराजित गाँधी'** शीर्षक से लिखी। इस पुस्तक में गाँधी जी की सफलता-असफलता का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। उस समय गुजराती समाज में इस पुस्तक का विरोध भी हुआ था और इसकी प्रतियां जलाई भी गईं थी। इस पुस्तक को प्रचार की दृष्टि से **'गाँधी की आँधी'** नाम से ही प्रकाशित किया गया था। इसके अतिरिक्त चतुरसेन जी ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति एवं उथल-पुथल को चित्रित करने वाली छोटी-छोटी तीन पुस्तकें **(गोलसभा, हमारे लाल दिन, मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह)** इन शीर्षकों से लिखीं। ये तीनों पुस्तकें उस समय के राजनीतिक परिवेश पर प्रकाश डालने वाली है। गम्भीर चिन्तन अथवा दिशा निर्देश न होने से इनकी गणना उच्च कोटि के लेखन में नहीं की जाती। लेखक के अपने व्यक्तिगत विचार ही इन पुस्तकों में पाए जाते हैं।

समसामयिक घटनाओं से लेखक ने जो प्रभाव ग्रहण किया वही इन पुस्तकों में अंकित किया गया है। किसी प्रकार का गम्भीर चिन्तन इनमें नहीं है। फलतः इनकी पहली पुस्तक **'असहयोग और सत्याग्रह'** के बाद शास्त्री जी ने जो कुछ लिखा उसकी तत्कालीन राजनीतिक लेखन पर कोई छाप लक्षित नहीं होती।

राजनीतिक लेखन के साथ शास्त्री जी ने समाज-सुधार संबंधी विषयों पर आधा दर्जन के लगभग पुस्तकें लिखीं। इसके साथ ही प्रौढ़ शिक्षा तथा संस्कृति विषयक पुस्तकों की संख्या तो बहुत है किन्तु वे पुस्तकें न होकर जनसाधारण में वितरण के लिए प्रकाशित ट्रैक्ट के समान हैं। प्रौढ़ शिक्षा तथा साक्षरता प्रचार का कार्य शास्त्री जी ने अब से लगभग चालीस वर्ष पहले प्रारम्भ कर दिया था और जनसाधारण के मार्गदर्शन के निमित्त छोटी-छोटी ट्रैक्टनुमा पुस्तकें लिखकर दो कार्य किये थे। जीवन निर्वाह तथा स्वास्थ्य सुधार के लिए जनता को जागृत करने के साधन तथा अनपढ़ जनता को साक्षर बनाने का सार्थक प्रयास। ब्रिटिश शासन काल में इस प्रकार के कार्य नहीं होते थे। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात हमारी सरकार का ध्यान इस दिशा में गया है और साक्षरता प्रचार के लिए अनेक प्रकार की योजनाएं बनाई गई हैं। आचार्य चतुरसेन की तत्कालीन पुस्तकों से इन योजनाओं में लाभ उठाया जा सकता है यदि इनके पुनर्मुद्रण का अधिकार सरकार ले ले और विषयानुसार इनको प्रकाशित किया जाए तो निश्चय ही सरकार को बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने संस्कृति विषयक कोई स्वतंत्र पुस्तक तो नहीं लिखी किन्तु अपनी विविध रचनाओं में अपना सांस्कृतिक दृष्टिकोण स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि सांस्कृतिक स्तर पर परम्परावादी या रूढ़िवादी नहीं थी। आर्य समाज के प्रभाव के कारण उन्होंने सामाजिक सुधार के कार्यों में अपना दृष्टिकोण भारतीय ही रखा है, किन्तु अंधविश्वासों के उन्मूलन में वे सदैव तत्पर रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों का बड़े वेग से प्रचार हो रहा था। समाज सुधार के कार्यों में आर्य समाज भारत का एक अग्रणी समाज था। चतुरसेन शास्त्री इसी काल में साहित्य सर्जन कर रहे थे। समाज सुधार के कार्यों पर उनकी दृष्टि बनी रहती थी। सन् 1932 में एक ऐसा प्रसंग आया कि उन्हें अपने वैयक्तिक विचारों के लिए तत्कालीन वैष्णव समाज से संघर्ष भी करना पड़ा। नाथद्वारा के युवक उत्तराधिकारी टिकैत श्री दामोदर लाल जी ने हंसा नामक एक वेश्या से विवाह किया था। इस विवाह को लेकर समाचार पत्रों में बहुत अधिक चर्चा हुई। आचार्य जी ने इस विवाह को समाज सुधार की दृष्टि से देखा और उचित ठहराया। इसी संदर्भ में उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'विश्वामित्र' में एक लेख **पाप और पुण्य** शीर्षक से छपवाया। इस लेख के छपने पर वैष्णव समाज में बहुत रोष

प्रकट किया गया । किन्तु शास्त्री जी ने इस प्रकार के विवाह को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिए और अपने लम्बे लेख में विवाहों की तथा सन्ततियों के नाम की विशद विवेचना प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया कि टिकैत दामोदर लाल ने कोई अनैतिक काम नहीं किया है।

नाथद्वारा के इस संदर्भ को शास्त्री जी ने अपनी आत्मकथा में विस्तार से लिखा है और विवाहों के शास्त्रोक्त विविध प्रकारों का वर्णन तथा संततियों के नामोल्लेख का वर्णन करते हुए यह सिद्ध किया है कि एक पत्नी के रहते हुए भी अन्य स्त्री से विवाह किया जा सकता है और उससे उत्पन्न संतान को भी अवैध नहीं ठहराया जा सकता। हंसा और दामोदर लाल का प्रकरण वैष्णव समाज में विशेषतः वल्लभ सम्प्रदाय में गहरी चिन्ता और चर्चा का विषय रहा। शास्त्री जी दामोदर लाल के पक्ष में ही लिखते रहे और इस विवाह को शास्त्र सम्मत ठहराने में संलग्न रहे। वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक भक्तों ने शास्त्री जी के लेखन का प्रतिवाद किया और इस विवाह को सम्प्रदाय के लिए अनिष्टकारी माना। किन्तु शास्त्री जी अन्त तक अपने मन्तव्य पर अडिग बने रहे।

चिकित्सा और आरोग्य विषयक साहित्य

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने अध्ययन काल में अन्य विषयों के साथ आजीविका की दृष्टि से आयुर्वेद का भी अध्ययन किया था। जयपुर के संस्कृत महाविद्यालय में पढ़कर उन्होंने आयुर्वेदाचार्य की उपाधि प्राप्त की थी। अध्ययन समाप्त करने के बाद अपने ससुर के अनुरोध से उन्होंने चिकित्सा क्षेत्र में पदार्पण किया और पहले दिल्ली में उसके बाद अजमेर में अपना औषधालय खोलकर सफलतापूर्वक चिकित्सा का कार्य किया। अजमेर में रहते हुए उन्हें राजपूताना के जागीरदारों तथा राजा-महाराजाओं की चिकित्सा का भी अवसर मिला और चिकित्सा के द्वारा अच्छा धन कमाया। धनोपार्जन को चिकित्सा का अच्छा साधन मानकर उन्होंने बम्बई में चिकित्सा का कार्य प्रारम्भ किया। वहाँ प्रारम्भ के कई वर्षों तक उनकी चिकित्सा से कई सेठ-साहूकारों को लाभ हुआ। इस चिकित्सा काल में वे अपने चिकित्सा विषयक अनुभवों को अपनी डायरी में नोट करते रहते थे।

बम्बई में उनका प्रवास लम्बे समय तक नहीं रह सका और उन्हें लौट कर दिल्ली आना पड़ा। दिल्ली आने पर उन्होंने अपना औषधालय खोला और चिकित्सा संबंधी कार्य प्रारम्भ कर दिया। उस समय तक उनका साहित्य जगत में प्रवेश हो चुका था और लेखन की दिशा में वे अच्छी प्रगति कर चुके थे। अतः उनके मन में यह भाव आया कि स्वास्थ्य और चिकित्सा विषयक पुस्तकें लिखकर अपनी जीविका का पथ प्रशस्त करूँ। प्रारम्भ में उन्होंने स्वास्थ्य विषयक तीन-चार

छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी। उनकी बिक्री भी संतोषजनक रही और आयुर्वेद संबंधी ज्ञान के आधार पर उन्होंने आठ-दस पुस्तकें सामान्य पाठक वर्ग के लिए लिखी। भाषा की प्रांजलता और भावों के सम्प्रेषण की क्षमता के कारण उनकी पुस्तकें लोकप्रिय हुईं। इस प्रकार शास्त्री जी का लेखन क्षेत्र व्यापक हो गया और आरोग्य शास्त्र को उन्होंने अपना प्रिय विषय बना लिया।

शास्त्री जी ने उसी समय **"आरोग्य शास्त्र"** नामक एक विशाल ग्रंथ लिखने का निश्चय किया। उस समय शास्त्री जी लखनऊ में थे। वे चाहते थे कि स्वास्थ्य विषयक एक विशाल ग्रंथ लिखा जाए और उसका शीर्षक हो **'आरोग्य शास्त्र'**। सन् 1933 में यह ग्रंथ छपकर तैयार हो गया। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि सभी स्त्री-पुरुष, युवा, वृद्ध, सद्गृहस्थ इससे बहुत लाभ उठा सकेंगे। इस ग्रंथ के मुद्रण में भी शास्त्री जी को बहुत श्रम करना पड़ा और कठिन और दुरूह विषयों को सुगम और सरल रीति से पेश करने की चेष्टा में उन्होंने जो श्रम किया, वह वर्णनातीत है। यह आरोग्य शास्त्र पुस्तक अत्यन्त लोकप्रिय हुई। किन्तु शास्त्री जी को अपने मित्रों की प्रवंचना के कारण आरोगय शास्त्र की बिक्री से अधिक लाभ नहीं हुआ।

उसके एक साल बाद ही सन् 1934 में इन्होंने शाहदरा में एक जमीन का टुकड़ा खरीदा और वहीं मकान बनाने का निश्चय किया। किन्तु धनाभाव के कारण वे उसे पूरा नहीं कर सके और पुनः उनका ध्यान स्वास्थ्य विषयक पुस्तकों के लेखन की ओर गया। आरोग्य शास्त्र के कारण चिकित्सा क्षेत्र में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया था। इसी पुस्तक से प्रेरणा लेकर उन्होंने जो अन्य पुस्तकें लिखी उनके नाम हैं – **पथ्यापथ्य, ब्रह्मचर्य, साधन, अमीरों के रोग, सुगम चिकित्सा, आरोग्य** पाठावली (दो भाग), **स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा, आहार और जीवन**। इन पुस्तकों की बिक्री से उन्हें जो धन मिलता था उसे उन्होंने अपने भवन निर्माण में लगाया। क्योंकि उनका रुझान अब साहित्य की ओर अधिक हो गया था इसलिए चिकित्सा शास्त्र संबंधी पुस्तकें लिखना उन्होंने बन्द कर दिया था। उनकी **'आरोग्य शास्त्र'** पुस्तक का दो वर्ष पूर्व पुनर्मुद्रण हो गया है और आज 60 वर्ष बाद भी वह पुस्तक हिन्दी चिकित्सा शास्त्र में अपना स्थान प्रथम श्रेणी में बनाए हुए है।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी भाषा और साहित्य को चतुरसेन शास्त्री का अवदान

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के सम्पूर्ण साहित्य का सर्वेक्षण करने के उपरान्त हम इसी के आधार पर उनके कृतित्व का विश्लेषण-विवेचन करना आवश्यक समझते हैं। यदि हम उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो उसमें भाषा-विषयक उनके विचार सुलभ हो सकते हैं। उन्होंने अपना समस्त साहित्य हिन्दी भाषा में ही लिखा, अतः हिन्दी भाषा के सामर्थ्य और सीमा को उद्घाटित करने वाले कुछ ऐसे बिन्दु हैं जो उनके साहित्य में स्पष्टतः लक्षित किए जा सकते हैं। भाषा और लिपि को साहित्य का वाहन माना जाता है। भाषा एक सामाजिक क्रिया है, वह किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है। मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और सम्मति का आदान-प्रदान करने के लिए जो ध्वनि-संकेत व्यक्त किए जाते हैं, उसी को भाषा कहते हैं। भाषा ही सामाजिक सहयोग का सबसे बड़ा साधन है। विकसित होने पर भाषा विचार और अभिव्यक्ति का साधन हो जाती है। भाषा का अन्तिम अवयव शब्द है, इसलिए शब्द का विश्लेषण ही भाषा का विश्लेषण है। शब्द वास्तव में, अर्थ और भाव दोनों का प्रतिबिम्ब है। भाषा भी अन्य कलाओं की भाँति सीखी जाती है। फिर भी भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। भाषा को समझने के लिए वक्ता और श्रोता दोनों को यह जानने की आवश्यकता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ से संबंध है। भाषा की उत्पत्ति समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि किसी शब्द का किसी अर्थ से संबंध प्रारम्भ में कैसे हुआ ? भाषा को भाव-सम्प्रेषण का सबसे प्रमुख और शक्तिशाली साधन माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को मातृभाषा का सहज ज्ञान सामाजिक सम्पर्को से प्राप्त हो जाता है। अपनी मातृभाषा से अधिक समर्थ कोई दूसरी भाषा नहीं होती।

आचार्य चतुरसेन ने भाषा को प्रारम्भ में पूरी सहजता से स्वीकार किया था। उनके प्रारम्भिक ग्रंथों की भाषा आडम्बरहीन, सहज, सरल और सुबोध थी। मनोविश्लेषण में भी इसी सहज भाषा का उन्होंने प्रयोग किया है किन्तु ज्यों-ज्यों उनके अध्ययन क्षेत्र का विस्तार होता गया त्यों-त्यों उनकी भाषा में क्लिष्ट और अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग बढ़ता गया। फलतः उनकी भाषा भी जटिल और कहीं-कहीं दुर्बोध होती गई। शास्त्री जी को हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत और थोड़ी बहुत काम चलाऊ उर्दू का भी ज्ञान था। किन्तु वे उर्दू में साधिकार लिखने में

समर्थ नहीं थे। इसी प्रकार मराठी, गुजराती और बंगला भाषा भी वे नहीं जानते थे। भाषा विषयक उनका दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही स्पष्ट रहा था किन्तु द्विवेदीयुगीन और प्रारम्भिक छायावादयुगीन कवियों की संस्कृतनिष्ठ तत्सम पदावली के प्रभाव में उन्होंने भी वैसा ही भाषा का प्रयोग अपने लेखन में किया। उनके परवर्ती गद्यगीतों की भाषा इसी प्रकार की है। प्रारम्भिक गद्यगीत **अन्तरस्तल** की भाषा में कहीं भी जटिलता या दुर्बोधता नहीं पाई जाती। **अन्तरस्तल** की विशेषता यह है कि उसमें रोमांटिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी लेखक ने क्लिष्ट तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं किया। रूमानियत के भावना प्रधान गद्यगीतों में भी उनकी भाषा का झुकाव सीधी और सरल अभिव्यंजना की ओर रहा है। उनकी भाषा का हिन्दुस्तानी रूप उनके नाटकों में स्पष्टतः देखा जा सकता है। उनके नाटक प्रायः मध्ययुगीन राजपूत राजाओं की शौर्य गाथा से संबंध रखते हैं। राजपूत राजाओं का संघर्ष मुगलों के साथ होता रहा। अतः चतुरसेन जी ने अपने नाटकों में ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो जनसामान्य की भाषा रही होगी। किसी प्रकार की आरोपित कृत्रिम भाषा को उन्होंने अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया। हाँ, उपन्यासों में अवश्य आडम्बरपूर्ण भाषा के दर्शन होते हैं। उसका सबसे भद्दा रूप हमें **वयमरक्षामः** उपन्यास में देखने को मिलता है। यहाँ लेखक के अन्तर्मन में पांडित्य प्रदर्शन की लालसा भी प्रबल वेग के साथ उभरकर सामने आती है। लेखक ने पाठक के ज्ञान की सीमाओं को समझे बिना उसमें अनावश्यक रूप से ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो अपने विषय की मूल संवेदना को भी व्यक्त करने में असमर्थ है। जहाँ लेखक की संवेदना स्वयं भाषा की जकड़ से श्लथ हो गई हो, वहाँ वह संवेदना रहित होकर सम्प्रेषणीय भी नहीं रहती। चतुरसेन जी ने भाषा और लिपि को साहित्य का वाहन अवश्य माना है।

आचार्य चतुरसेन के साहित्येतर विषयों की चर्चा करना मैं आवश्यक नहीं समझता। उस साहित्य की उपयोगिता की चर्चा मैं यथास्थान कर चुका हूँ। मूलतः उनके कलात्मक साहित्य (उपन्यास, गद्य, काव्य, संस्मरण, कविता आदि) पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करना ही इस संदर्भ में उपयोगी होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में शास्त्री जी का उल्लेख ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में होता है। उनके अधिकांश उपन्यास इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं किन्तु शास्त्री जी ने तिथि, घटना, पात्र आदि का इतिहास सम्मत परिदृश्य ग्रहण नहीं किया। उनका मत है कि इतिहास की घटनाएं उनके लिए मात्र कंकाल हैं। उस कंकाल में प्राण प्रतिष्ठा करना लेखक की प्रातिव कल्पना से ही संभव होता है। इसलिए उस ग्रंथ को पढ़कर पाठक के मन में जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसे चतुरसेन जी इतिहास रस अथवा अतीत रस कहते हैं। वस्तुतः इतिहास रस नाम का कोई रस काव्यशास्त्र में स्वीकृत नहीं है। उन्होंने अपने ग्यारह ऐतिहासिक

उपन्यासों में कहीं इतिहास और कहीं इतिहास का आभास मात्र देकर कथानक की सृष्टि कर दी है।

हम उनके इतिहास विषयक दृष्टिकोण पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक समझते हैं। उन्होंने **वैशाली की नगरवधू** की भूमिका में लिखा है कि "ऐतिहासिक अनुसंधान कभी पूरा नहीं हो सकता फिर क्यों ने साहित्यकार अपनी कहानी और उपन्यास की चिर सत्य के आधार पर – जिसमें गवेषणा की कोई गुंजायश ही नहीं – रचना करें और ऐसी रचनाएं जो साहित्य संश्लिष्ट हैं और जिनका एक अनिर्दिष्ट रस है, अपने स्थान पर उचित हों। साहित्य के आचार्यो ने नौ मूल रसों को साहित्य सर्जन में महत्व दिया है किन्तु उनके सिवाय कुछ अनिर्दिष्ट रस भी हैं जिनमें एक इतिहास रस भी है।" चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रसिद्ध उपन्यास **वैशाली की नगरवधू** है जिसे लेखक स्वयं अपने जीवन की सफल कृ‌ति स्वीकार करता है। उनके अन्य वृहतकाय ऐतिहासिक उपन्यास हैं – **सोमनाथ, वयंरक्षामः, सोना और खून**। इनमें से अन्तिम उपन्यास **'सोना और खून'** लेखक की योजना की दृष्टि से दस भाग और दस हजार पृष्ठों में फैली हुई थी। किन्तु बीच ही में उनकी मृत्यु हो जाने के कारण ढाई भाग लिखे जा सके। इसके दो भाग चार खण्डों में प्रकाशित हो गए। एक और उपन्यास **पूर्णाहुति** शीर्षक से हैं। इस उपन्यास में लेखक ने हिन्दू राजाओं के शौर्य का चित्रण किया है। इसमें देश सेवक राजा, सामन्त, मंत्री, योद्धा, पंडित, सुन्दरी आदि को अपने वर्णन का विषय बनाया है। उनकी दृष्टि अपनी कल्पना से एक ऐसे सुरम्य वातावरण पर स्थित रही है जो अतीत में जीवित रहा होगा। **'वैशाली की नगरवधू'** उपन्यास में उनकी दृष्टि सौन्दर्य और ऐश्वर्य, शौर्य, पराक्रम, उत्थान और पतन आदि तत्वों पर सतत बनी रही है। अपनी इस धारणा की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अनुपम सुन्दरी अम्बपाली तथा उसके अप्रत्याशित भाग्यचक्र को वर्णन का विषय बनाया।

वज्जीगण की राजधानी वैशाली का नियम था कि उस गण की सर्वाधिक सुन्दरी अविवाहित रहकर सम्पूर्ण गण का मनोरंजन करे। उसे सब प्रकार के सांसारिक वैभव सुलभ होते थे। किन्तु नगरवधू बनने के लिए उसे विवश होना पड़ता था। अम्बपाली अपने जीवन से खिन्न और असन्तुष्ट बनी रही और इस नियम को धिक्कृत कानून मानकर आभ्यन्तर विद्रोह के साथ सहन करती रही। ऐसी नारी की मनोव्यथा के चित्रण में बहुत ही सावधानी की जरूरत है। जिस नारी का कोई संरक्षक न हो, पति न हो, माता न हो, पिता न हो, भ्राता न हो वह नगरवधू होकर ऐश्वर्यशाली बनी भी रहे तो क्या वह सुख-सन्तोष और शांति का अनुभव कर सकती है। इसीलिए तथागत के सामने आकर उसने अपने अन्तर का दारुण हाहाकार इन शब्दों में व्यक्त किया है – "भन्ते ! इस अधम अपवित्र नारी की विडम्बना कैसे बखान की जाये। यह महानारी शरीर कलंकित करके भी जीवित

रहने पर बाधित की गई, सुसंकल्प से मैं वंचित रही। भगवन् यह समस्त सम्पदा मेरी कलुषित तपश्चर्या का संचय है। मैं कितनी व्याकुल, कितनी कुंठित, कितनी शून्य हृदया रहकर अब तक जीवित रही हूँ, यह कैसे कहूँ।" अम्बपाली के चित्रण में लेखक ने नारी-मन में उठने वाले आवेग-संवेग, भाव और विचार बहुत गम्भीरता के साथ चित्रित किए हैं। यद्यपि वह लांछित जीवन जीने के लिए विवश की गई थी, किन्तु वह जानती थी कि जिस कर्म या दुष्कर्म के लिए वह बाध्य की जा रही है, उसमें उसका कोई हाथ नहीं है। अंबपाली के चित्रण में लेखक ने अपनी कल्पना से नाना प्रकार की घटनाओं को जोड़ दिया है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के अनुसार – "उपन्यास के अन्दर इतिहास के मिल जाने से जो एक विशेष रस संचारित हो जाता है, उपन्यासकार एक मात्र उसी रस (ऐतिहासिक रस) के लालची होते हैं। उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यास में इतिहास की उस विशेष गंध और स्वाद से ही एकमात्र सन्तुष्ट न हो, उसमें से अखंड इतिहास को निकालने लगे तो वह सब्जी के बीच में साबित जीरे, धनिया और सरसों ढूंढेगा। क्योंकि यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला तो उपलक्ष मात्र है।" शास्त्री जी मानते हैं कि लेखक के रूप में उनका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं। समाज प्रवाह का वेग दिखाना होता है। इसीलिए उन्होंने नगरवधू के संबंध में यह घोषणा कर दी है कि पात्रों के नाम-कुल को छोड़कर प्रायः सब काल्पनिक है। पात्रों की काल परिधि का कुछ भी विचार नहीं किया गया है और आवश्यकता पड़ने पर इतिहास के सत्य की रक्षा करने की कुछ भी परवाह नहीं की गई है। शास्त्री जी ने तत्कालीन समाज-प्रवाह का वेग दिखाने के नाम पर मद्य-मांस एवं मुक्त सहवास का जो खुला चित्रण किया है, वह पाठक को स्वीकार नहीं हो सकता।

'वैशाली की नगरवधू' अम्बपाली के शील-विकास की केन्द्रीय कथा से यही तथ्य उभरकर सामने आता है कि नारी की पराधीनता उन्हें कचोटती थी। उन्हें लगता था कि राजपुरुषों की उच्छृंखल कामुकता घृणा के योग्य है। इसलिए लेखन में अम्बपाली को पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध स्वाधीनता के संघर्ष का प्रतीक बनाया है। इस उपन्यास में बिम्बसार साम्राज्यलिप्सा और भोगलिप्सा का प्रतिनिधि है। सोमप्रभ सदाचार, युद्ध-विरोधी भावना तथा मानवता का प्रतीक है। सोमप्रभ विनाशकारी युद्ध बन्द करवा देता है और स्वयं बुद्ध धर्म स्वीकार कर लेता है। अम्बपाली भी भिक्षुणी बन जाती है। इस तरह यह धार्मिक कथा भी राजनीतिक कथा से जुड़कर विचारोत्तेजक सिद्ध होती है।

चतुरसेन शास्त्री का साधारण कोटि का एक ऐतिहासिक उपन्यास **'आलमगीर'** शीर्षक से है और एक दूसरा उपन्यास **सह्याद्रि की चट्टानें** भी शिवाजी-केन्द्रित उपन्यास है। ये दोनों उपन्यास कालावधि की दृष्टि से एक ही समय के हैं और

दोनों के नायक भी प्रतिद्वन्दी व्यक्ति है। इन दोनों उपन्यासों को इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिखा अवश्य गया है किन्तु ऐतिहासिक तिथि, स्थान, घटनाचक्र आदि का निर्वाह नहीं किया गया है। इसीलिए इतिहास प्रधान होने पर भी दोनों अत्यन्त शिथिल और रस की दृष्टि से शुष्क है। **वयंरक्षामः** उपन्यास के संबंध में हम पहले ही लिख चुके हैं कि यह उपन्यास, तकनीकी दृष्टि से उपन्यास न होकर एक कथा जाल का जंजाल है। इस उपन्यास की भाषा, विषयवस्तु और अभिव्यंजना शिल्प आदि के संबंध में हम पहले लिख चुके हैं। हमारी दृष्टि में यह एक ऐसा उपन्यास है, जिसे कथा वस्तु और शैली की दृष्टि से तथ्यात्मक घटना प्रधान उपन्यास नहीं कह सकते। भाषा और शैली की दृष्टि से तो यह उपन्यास-परम्परा से सर्वथा बहिष्कृत करने योग्य है। इसकी एक ही विशेषता है कि यह आचार्य चतुरसेन के व्यापक ज्ञान और अध्ययन का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसे लेखक ने स्वयं इतिहास रस से हटाकर अतीत रस कहा है। इतिहास शब्द का अर्थ है इति-ह-आस अर्थात् ऐसा (पूर्वकाल में) हुआ था अर्थात् जो कुछ अतीत में घटित हुआ वही इतिहास हुआ। इसलिए अतीत रस शब्द का निर्माण युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यह जरूर है कि **वयंरक्षामः** उपन्यास में लेखक ने इतिहास मात्र या पूर्व घटित घटनाओं को ही नहीं लिया वरन् उन ग्रंथों का इसमें समावेश किया है जो प्रागैतिहासिक काल में लिखे गए थे। अर्थात वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, दर्शन, पुराण आदि का समावेश करके उसमें वर्णित वैदिक, अवैदिक तत्वों का सम्मिश्रण कर दिया है। इसे इसी आधार पर यदि लेखक अतीत रस का उपन्यास कहता है तो उनकी सर्वथा कल्पित एवं अतर्कित स्थापनाओं के विषय में कुछ नहीं कह सकते।

'सोना और खून' उपन्यास आधुनिक काल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया रोचक उपन्यास है। यह चार भागों में अंग्रेजों के भारत आगमन से लेकर वापस लौटने की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस उपन्यास में लेखक ने तीन प्रश्न प्रस्तुत करके उनका नकारात्मक शैली में उत्तर दिया है। प्रश्न है – क्या अंग्रेजों ने सही मायने में भारत को जीता ? उत्तर है नहीं। दूसरा प्रश्न है, क्या सन् 1857 का विद्रोह देश भक्तों ने किया था ? उत्तर है नहीं। तीसरा प्रश्न है, भारत की वर्तमान आजादी में सन् 57 की कोई प्रतिक्रिया थी ? उत्तर है नहीं। इस प्राकर **सोना और खून** उपन्यास आधुनिक काल से जुड़ा होने के कारण बहुत से तथ्यों की जानकारी देता है। 19वीं शताब्दी के कुछ तथ्य ऐसे हैं जिनको लेखक ने अपनी रुचि के अनुसार वर्णित किया है। इतिहास में तीन प्रश्न सदैव ध्यातव्य होते है। कब, कहाँ और क्यों ? इनका अर्थ है घटना किस तिथि या सन् में घटित हुई, घटना किस स्थान या देशकाल में घटित हुई। इस घटना के पीछे मूल कारण क्या थे ? कौन ऐसे व्यक्ति थे जिनकी वजह से यह सब घटित हुआ। यदि इन तीन प्रश्नों का

सही उत्तर इतिहास प्रधान उपन्यास नहीं देता है तो इतिहास की कसौटी पर उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। शास्त्री जी ने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में इन प्रश्नों के उत्तर देने की चिन्ता नहीं की। उनकी मान्यता थी कि उपन्यास लेखक अपनी कल्पना से, तिथि क्रम आदि की उपेक्षा करके भी, ऐतिहासिक उपन्यास लिख सकता है। इस उपन्यास में इतिवृतात्मकता का प्राधान्य है। इसीलिए अभिव्यंजना शिल्प में शुष्कता लक्षित होती है। कुछ संदर्भ ऐसे हैं जिनमें लेखक की मनःस्थिति भावुकतापूर्ण हो गई है। शास्त्री जी अपने को मानवतावादी लेखक मानते थे, इसलिए आदर्शोन्मुख बने रहना भी उनके उपन्यासों में मिल जाता हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि "मैं मानववादी भी तो हूँ, मनुष्य को मैं दुनिया की सबसे बड़ी इकाई समझता हूँ। मैं मनुष्य का पुजारी हूँ। और मनुष्य मेरा देवता है।" इसका एक उदाहरण महमूद के चरित्र-चित्रण में देखा जा सकता है। यही कारण है कि उन्होंने **आलमगीर** में औरंगजेब की सूखी कट्टरता को हीराबाई की प्रेमविभोरता में दिखाया है। **वयंरक्षामः** में रावण को नायक बनाकर लेखकीय सहानुभूति से मंडित किया है। रावण भी अपने भाई और पुत्र की मृत्यु पर सामान्य नर की भाँति द्रवित होकर अश्रुप्रवाह करता दिखाया गया है। इस वर्णन से चतुरसेन की भावुकता का भी प्रमाण मिलता है।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में चतुरसेन जी के उपन्यासों में कालावधि का विस्तार सर्वाधिक मिलता है। वैदिक युग से आधुनिक युग के निकट वर्तमान तक का वर्णन उन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में किया है। **'सोमनाथ'** उपन्यास में मन्दिर के ऐश्वर्य और साधारण महानता का वर्णन विस्तार से किया गया है। महमूद के मन में जो प्रलोभन उत्पन्न हुआ और जिस कारण उसने आक्रमण किया, उसका वर्णन लेखक ने बहुत विस्तार के साथ किया है। इस वर्णन में लेखक की आलोचनात्मक दृष्टि भी बहुत सजग रही है। **'सोमनाथ'** चतुरसेन की अधिक संतुलित व सफल रचना मानी जाती है क्योंकि यह ऐश्वर्य, वैभव, शौर्य, पराक्रम, वीरता, साहस आदि तत्वों से भरपूर है। लेखक ने तत्कालीन समाज और शासकों की प्रवृत्तियों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है। तत्कालीन हिन्दू राजाओं के वर्णन में बहुत पैनी दृष्टि से उनकी वीरता को भीरुता में, शौर्य पराक्रम को चाटुकारिता में, नीतिपरता को अनैतिकता में तथा त्याग और अपरिग्रह को स्वार्थपरता में चित्रित कर दिखाया है। उस समय के राजा अजयपाल, चामुंडराय, धर्मगजदेव, दुर्लभ देव आदि को उनकी कायर भावना में वर्णित करके यह दिखाया है कि तत्कालीन हिन्दू राजा संगठित होकर महमूद गजनवी के आक्रमण का सामना करने को तैयार नहीं थे। इस उपन्यास में चतुरसेन जी की अनुपम अभिव्यंजना कला के दर्शन होते हैं।

वयंरक्षामः में स्वच्छन्दतावादी दृष्टि को अधिक स्थान मिला है। इसमें स्त्री-पुरुष

के यौन-संबंधों तथा खान-पान के प्रश्न पर मद्य-मांस के लिए खुली छूट देकर लेखक ने सामाजिक नियमों के प्रति अवहेलना का भाव व्यक्त किया है। यदि मनुष्य को उन्मुक्त भाव से सामाजिक संयम तोड़कर आचरण करने की सुविधा दे दी जाय तो वह समाज लगभग वैसा ही होगा जैसा **वयंरक्षामः** में चित्रित किया गया है। स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द रमण के अनेक प्रसंग का मुक्त भाव से वर्णन पढ़कर यह कहा जा सकता है कि जिस युग के मनुष्यों का यह वर्णन है वह युग पशुओं की भाँति स्वच्छन्द रहा होगा। भोजन के संबंध में भी इसी प्रकार की स्वच्छन्दता का वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास में कुछ ऐसे विचित्र संदर्भ भी अंकित किए गए हैं जिनमें धर्म, सदाचरण आदि को भी स्थायी जीवन तत्व के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। धर्म को तो उन्होंने सबसे बड़ा झूठ माना है। "उनकी दृष्टि में धर्म मिथ्या मान्यताओं और अंधविश्वासों का निर्जीव ढेर मात्र है। इसकी आड़ लेकर चतुर लोग भावुक श्रद्धालुओं का शोषण करते हैं और जनून में आकर तथाकथित असंख्य विधर्मी जनों का शिरोच्छेद करते हैं।" इस प्रकार के उदाहरणों से संसार के पश्चिम और पूर्व का इतिहास भरा पड़ा है।

चतुरसेन शास्त्री की प्रसिद्धि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण है। जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उन उपन्यासों में उपन्यास कला की दृष्टि से जो त्रुटियाँ लक्षित होती हैं उनका भी संकेत किया जा चुका है। शास्त्री जी की दृष्टि में इतिहास का विशेष महत्व नहीं था। इतिहास को उन्होंने ढांचा मात्र मानकर उसमें अपनी प्रतिभा के द्वारा स्थिति, परिवेश तथा घटनाक्रम को प्रस्तुत किया है। घटनाओं के प्रस्तुतीकरण की उनकी अपनी कलात्मक शैली है। उन्होंने वृन्दावनलाल वर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यासों की वर्णन शैली को नहीं अपनाया वरन् अपनी स्वतंत्र शैली से इतिहास रस को अपनी रचनाओं में स्थान देने का प्रयास किया है। इस प्रयास से कहीं-कहीं उनके उपन्यास रोचकतापूर्ण हो गए हैं जो कहीं उनमें प्रकरणविमूढ़ता तथा अत्यधिक विषयान्तर का समावेश हो गया है।

आचार्य चतुरसेन ने कुछ सामाजिक उपन्यास भी लिखे। वस्तुतः वह युग सामाजिक उपन्यासों के लिए अधिक उपयुक्त था। प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक उपन्यासों के द्वारा उपन्यास विधा में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया था। **'सेवा सदन'** से **'गोदान'** तक उन्होंने समाज की अनेक समस्याओं को बड़ी सजीव शैली में लिखकर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। उनके उपन्यासों के विषय समाज के प्रायः सभी संदर्भों से जुड़े हुए थे। शास्त्री जी ने भी समाज सुधार के क्षेत्र में काम करने में रुचि दिखाई थी। आर्य-समाज के सम्पर्क में रहने के कारण उनकी समाज सुधार की प्रवृत्ति बहुत सजग थी। प्रेमचन्द को भी आर्य-समाज ने ही समाज सुधार की ओर प्रेरित किया था। इस प्रकार दोनों लेखकों की प्रेरणा

का स्रोत सामाजिक सुधार की दृष्टि से आर्य-समाज के अनुकूल था। स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, दहेज-प्रथा, वर्ण व्यवस्था, अंधविश्वास, रूढ़िवादी पूजा-पाठ आदि विषयों पर प्रेमचन्द जी अपने उपन्यासों में लिख चुके थे। उनकी रचनाओं से पाठक प्रभावित थे। आचार्य चतुरसेन ने उसी परम्परा में **'अमर अभिलाषा'** उपन्यास लिखा और विधवा-जीवन की करुण कथा को स्थान देकर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का सहारा लिया। **'पत्थर युग के दो फूल'** उपन्यास में पति-पत्नी के जिन युगलों का शास्त्री जी ने प्रस्तुत किया है उनमें एक भी ऐसा नहीं है जो विवाहेत्तर प्रेम प्रसंगों में डूबा हुआ न हो। इस उपन्यास को पढ़कर लगता है कि लेखक यह मानता है कि आधुनिक विकास और चित्तवृत्तियों के परिष्कार की बात एक प्रकार का आवरण ही है। मनुष्य के मन में बसी हुई नैसर्गिक प्रवृत्ति अर्थात् आदिम भूख उसे आज भी दिग्भ्रमित करती है। इस प्रकार के आदिम भूख के वर्णन में शास्त्री जी ने रुचि लेकर अनेक वर्णन प्रस्तुत किए हैं। इतना अवश्य है कि उसमें रोचकता लाने के लिए उन्होंने ऐसे बिन्दु भी उभार दिए हैं जो यथार्थ से सम्पृक्त हैं। यह ठीक है कि शास्त्री जी ने अपनी रचनाधर्मिता को इस प्रकार के संदर्भों से जोड़ रखा था जो अतीत और वर्तमान के संघर्ष से सम्पृक्त थी। अतः अतीत और वर्तमान का संघर्ष उनकी रचनाओं में, विशेषतः उपन्यासों में सतत बना रहा। उन्होंने अतीतोन्मुखी अंधविश्वासी दृष्टि से अतीत को नहीं देखा। उनकी दृष्टि कार्य-कारण संबंध से संयुक्त होकर अतीत में झांकती थी। इसलिए अतीत का वरेण्य उनके लिए ग्राह्य होता था। सामाजिक उपन्यास और कहानियों में वर्तमान युग का यथार्थ ही उन्हें अभीष्ट था। उन्होंने राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के बीच रहकर जो देखा था उसे निर्भीक शैली में लिखा और दलित शोषित वर्ग का जो क्रन्दन सुना, उसे अपनी कराह में शामिल कर शब्द द्वारा ध्वनित किया। इन उपन्यासों में शास्त्री जी का ध्यान अपने कथन की सम्प्रेषणीयता और संवेदनीयता की तरफ सतत बना रहा। मूल्यांकन की कसौटी धारण करने वाले आलोचक यदि अपने निकष पर उनके उपन्यास साहित्य की सही परख नहीं कर सके तो इसमें रचनाकार का क्या दोष है ?

आचार्य चतुरसेन के कथा साहित्य के विषय में कुछ जनापवाद भी प्रचलित हैं। कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि उनकी कुछ कहानियाँ अन्य भाषाओं से अनूदित की गई हैं। शास्त्री जी ने इस प्रकार के लोकापवादों का विरोध किया और उन्हें अपने ऊपर लगाए गए पक्षपातपूर्ण आरोप ही माना। कुछ भी हो, इस प्रकार के मिथ्या आरोपों से आचार्य जी का साहित्य निम्नस्तरीय नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने चार सौ के लगभग कहानियाँ लिखी। यदि उनमें दस प्रतिशत कहानियाँ भी वस्तु, शिल्प, संवाद, चरित्र-चित्रण तथा संवेदना के स्तर पर उच्चस्तरीय हैं तो लेखक को तीन दशक के कहानी लेखकों में सम्मानपूर्ण स्थान

मिलना चाहिए। यह ठीक है उन्होंने कुछ कहानियाँ हिन्दू जाति के उत्कर्ष-प्रदर्शन के लिए भी लिखीं और कुछ कहानियों में हिन्दू पुनर्जागरण का प्रच्छन्न स्वर भी गुंजित होता हुआ दृष्टिगत होता है। चतुरसेन जी की कुछ कहानियाँ इतनी मार्मिक और संवेदनापूर्ण हैं कि उनका प्रभाव पाठक पर तत्काल पड़ता है और कहीं आवेश, आवेग, संवेग और कहीं गलदश्रुपूर्ण भावुकता तथा रोमांचक स्पन्दन उत्पन्न करने वाला होता है। जिस प्रकार उनके **'गोली'** उपन्यास ने गोली के माध्यम से पाठक को चकित, रोमांचित और संवेदनमय बनाया था, उसी प्रकार इनकी कुछ कहानियाँ भी यही प्रभाव उत्पन्न करती हैं। **'अंबपाली'** कहानी को ही कालान्तर में विकसित करके लेखक ने **'वैशाली की नगरवधू'** शीर्षक से अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास लिखा है। इस अम्बपाली कहानी को किशोरी लाल गोस्वामी ने अपने समय की श्रेष्ठ कहानी ठहराया था। शास्त्री जी अपनी कहानियों के विषय में लिखते हैं कि "मैंने अपने अनुभवों को यथार्थ की भूमि पर अवस्थित कर कहानियाँ लिखी हैं। कल्पना का अतिरेक उनमें है किन्तु कहानी के केन्द्र में छोटी-बड़ी कोई घटना रहती है"। तीस-चालीस वर्ष पहले शास्त्री जी की कहानियाँ जैसे **'दुखवा मैं कासे कहूँ मेरी सजनी', आदर्श बालक, कैदी, सोया हुआ शहर, लम्बग्रीव, जीवनमुक्त, मास्टर साहब, बेला का ब्याह, राजा साहब** आदि पाठ्यपुस्तकों में रहती थी किन्तु आधुनिकता बोध ने उन्हें अस्पृश्य बनाकर छोड़ दिया है। 30-35 वर्ष में उन्होंने 400 से अधिक कहानियाँ लिखी जो एक रिकार्ड है। कहानी लिखने की शास्त्री जी की प्रक्रिया विचित्र थी। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि तत्वों से घटित होने वाली कोई भी बात उनके लिए अछूती नहीं रहती थी। उन्होंने स्वीकार किया है कि चिकित्सा क्षेत्र में काम करते हुए उन्हें अपनी कहानी के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती थी। वस्तु संग्रह के लिए उन्हें ज्यादा भटकना नहीं पड़ता था। कहानियों में उनकी दृष्टि प्रायः सामयिक युगबोध से सम्पृक्त रहती थी। अतीत या इतिहास से जुड़ी कहानियाँ उन्होंने लिखीं अवश्य किन्तु उनकी संख्या बड़ी नहीं है। समाजोन्मुख रहने के कारण उन्होंने अपने युग के वर्तमान समाज का ही चित्रण अधिक किया है जबकि अपने श्रेष्ठ उपन्यासों में इतिहास को तोड़-मरोड़ कर उन्होंने केन्द्र में रखा है। राजा-रजवाड़ों के जीवन से सम्बद्ध कहानियाँ भी अच्छी बन पड़ी हैं क्योंकि इस क्षेत्र से उनका सम्पर्क रहा था। इस सम्बन्ध में **मुहब्बत, ककड़ी की कीमत** तथा **नवाब ननकू** कहानियाँ द्रष्टव्य हैं। इनमें से कुछ कहानियाँ पौराणिक एवं मिथकीय प्रतीकों की पृष्ठभूमि को उभारने वाली हैं। **बाबर्चिन** कहानी बहादुर शाह जफर के पतन के काल से सम्बद्ध एक कृतघ्न एवं विश्वासघाती के हृदय परिवर्तन की मार्मिकता लिए हुए है। हृदय परिवर्तन का प्रभाव दिखाने के लिए महात्मा गाँधी के अहिंसक आन्दोलन पर **'नहीं'** शीर्षक कहानी लिखी। इन कहानियों में संवादों की सजीवता, भाषा की परिवर्तनशीलता का सौन्दर्य

लक्षित होता है। उनकी कुछ कहानियों का अन्त त्रासद रूप में हुआ है। त्रासदी के आधारभूत पात्र अपने प्रेम और कर्तव्य के समतुल्य नियति के शीलोत्कर्ष में एक दूसरे की स्पर्धा में खड़े दिखाई देते हैं। वातावरण के अनुकूल भाषा और अनुभवों से युक्त संवादों का विषय एवं शिल्प का अपना योगदान स्थिर करने योग्य है।

शास्त्री जी ने **'मेरी प्रिय कहानियाँ'** शीर्षक से सोलह कहानियों का अपना एक संग्रह अपने जीवन काल में प्रकाशित कराया था। वह संग्रह भी बहुत वजनदार नहीं माना जा सकता। उन कहानियों में लेखक का शब्दाडंबर और वस्तुविन्यास दोनों ही कहानी को वैचारिक स्तर पर गरिमा प्रदान नहीं करते। जो कहानियाँ ऐतिहासिक घटनाओं पर केन्द्रित हैं उनमें भी शास्त्री जी ने अपनी कल्पना के योग से ऐसे अप्रासंगिक तथ्य जोड़ दिए हैं जो कहानी को मनोरंजक तो बनाते हैं किन्तु कहानी के कथोपकथन और संवादों को भारी-भरकम बनाकर पाठक के लिए बोझिल बना देते हैं। शास्त्री जी का कहना है कि "मैंने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने वाली कहानियाँ लिखी हैं।" कहानियों की विपुल मात्रा (400 लगभग) को देखकर यह कहना असंगत न होगा कि शास्त्री जी की दृष्टि का प्रसार निःसंदेह व्यापक था। छोटे-छोटे विषयों पर भी उन्होंने कहानियाँ लिख कर यह सिद्ध करना चाहा है कि वे हाट-बाजार, घर-गृहस्थी, समाज-संस्कृति आदि सभी विषयों पर दृष्टि रखते थे किन्तु यह सब करने पर भी उनकी कहानियाँ न तो प्रेमचन्द स्कूल के अन्तर्गत स्थान पा सकीं और न रोमानी शैली की कहानियों में गिनी गईं। जैसा कि हमने पहले संकेत किया है कि उनकी कुछ कहानियाँ अपने युग में लोकप्रिय हुई थीं किन्तु अधिसंख्य कहानियाँ आधुनिक कहानी तकनीक के आधार पर श्रेष्ठ नहीं समझी गईं। कहानी के संबंध में दो मत प्रचलित रहे हैं – मनोरंजन और संवेदन में विश्वास करने वाले समीक्षक कहानी के कथ्य या वस्तु पर विशेष ध्यान नहीं देते। दूसरे लोग कहानी में वस्तु, तथ्य पर बल देते हुए पात्र, चरित्र-चित्रण और वर्णन शैली को सफलता का आधार मानते हैं। स्मरण रहे कि मनोरंजन का तत्व सभी कोटि के पाठकों के लिए आवश्यक होता है। चतुरसेन जी का ध्यान घटना को केन्द्र में रखकर कहानी का ताना-बाना बुनने पर रहता है। अतः यदि घटना में सांकेतिकता का अभाव हुआ तो कहानी व्यंजना शून्य बन कर कोरी अभिधात्मक हो जाती है। कहानी में औत्सुक्य भी एक अनिवार्य तत्व है। कहानी का प्रारम्भ चाहे जैसा हो किन्तु वह पाठक के मन में आगे क्या होगा – की उत्सुकता नहीं जगाता तो कहानी वर्णनात्मक बनकर ही रह जाती हैं। चतुरसेन जी की कहानियाँ प्रायः वर्णनात्मक ही हैं। अतः उनकी ज्यादातर कहानियों को आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में वह स्थान नहीं मिला जो विपुल मात्रा में कहानी लिखने वाले लेखक को मिलना चाहिए था।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपनी युवावस्था में राजनीतिक लेखन भी किया था। उनके ग्रंथों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। राजनीति विषयक उनकी पहली पुस्तक **सत्याग्रह और असहयोग** 1921 में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद **'21 बनाम 30'** सन् 1930 में, **'गोल सभा'** 1931 में, **'गाँधी की आँधी उर्फ पराजित गाँधी'**, **'हमारे लाल दिन'**, **'मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह'** शीर्षक पुस्तकें उनके राजनीतिक विचारों को व्यक्त करने वाली हैं। प्रारम्भिक दो पुस्तकों के प्रकाशन के समय काफी चर्चा हुई थी। प्रताप के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी ने **'सत्याग्रह और असहयोग'** पुस्तक को उस समय की समसामयिक राजनीति की गीता तक ठहराया था। उस समय चतुरसेन जी की दृष्टि भारत की आजादी के लिए किए जाने वाले आन्दोलनों पर थी। उनका स्पष्ट मत था कि देश को स्वतंत्र बनाने के लिए केवल असहयोग आन्दोलन पर्याप्त नहीं है। ब्रिटिश सरकार की सुदृढ़ शासन व्यवस्था असहयोग द्वारा ध्वस्त नहीं की जा सकती। असहयोग और सत्याग्रह ऐसे साधन हैं जो सामान्य जन के लिए सुगम प्रतीत होने पर भी सदैव स्वीकार्य नहीं हो सकते। महात्मा गाँधी को इसीलिए उन्होंने पराजित गाँधी ठहराकर उनके साधनों को सफलता के चरम बिन्दु तक पहुँचने योग्य नहीं माना था। उनका कहना था कि केवल असहयोग करने से ब्रिटिश शासन की डेढ़ सौ वर्ष की जमी हुई जड़ निर्मूल नहीं हो सकती। उनका मन क्रांतिकारी हिंसात्मक उपायों से जुड़ा था। लेकिन वे स्वयं किसी प्रकार का हिंसक या अहिंसक आन्दोलन करने की क्षमता नहीं रखते थे। असहयोग अथवा सत्याग्रह के साधनात्मक प्रयोग को उन्होंने इसीलिए असफल प्रयोग माना कि उसके द्वारा शासन व्यवस्था पूर्णरूपेण भंग नहीं की जा सकती।

सत्याग्रह का प्रयोग महात्मा गाँधी और उनके अनुयायियों ने विदेशी वस्त्र बहिष्कार तथा विदेशी शासन व्यवस्था के उन्मूलन के लिए किया था, जो सन् 1921-22 तथा तदुपरान्त 1931-32 में असफल ही रहा। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि इन असफलताओं में भी सफलता के बीज छिपे हुए थे। सफलता के उस बीज को हम जन-जागरण के रूप में अंकुरित होते हुए उसी काल में देख सकते हैं। राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस भी इसी काल में हुई और उसके द्वारा भी भारतीयों को अपना अभीष्ट प्राप्त नहीं हुआ। विक्षोभ और विद्रोह का वातावरण बना। इसे हम जनजागरण का सुफल मानते हैं। आचार्य चतुरसेन ने इन दोनों बार के प्रयोग पर तो टिप्पणी की है किन्तु इन्होंने सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन पर राजनीतिक दृष्टि से कोई विचार व्यक्त नहीं किया। हमें लगता है कि शास्त्री जी उस समय राजनीति से दूर रहकर अपने चिन्तन-मनन और अध्ययन में संलग्न थे और भारी भरकम उपन्यासों की रचना कर रहे थे। सन् 42 का भारत छोड़ो आन्दोलन हमारे देश के राजनीतिक जीवन की सन् 1857 के बाद दूसरी सबसे

बड़ी घटना थी। इसमें हिंसात्मक विद्रोह भी प्रकट हुआ था। सारा देश एक बार हिल गया था और अंग्रेजों के पाँव उखड़ गए थे। इसी समय द्वितीय विश्व युद्ध भी जोरों के साथ जारी था। जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी आदि साम्राज्यवादी ताकतें संसार को अपने आक्रामक प्रहारों से कँपा रही थीं। जापान के दो बड़े नगर हिरोशिमा और नागाशाकी एटम बम के प्रहार से ध्वस्त हो चुके थे। चार वर्ष तक यह युद्ध चलता रहा। इसी बाच हमारे देश के नेता सुभाष चन्द्र बोस भारत छोड़कर विदेश चले गए और जापान में उन्होंने आजाद हिन्द फौज नामक सैन्य संगठन कर लिया था। भारत पर जापानी आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। ऐसी विषम परिस्थितियों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की कलम से राजनीतिक उद्‌गार प्रकट नहीं हुए, यह आश्चर्य का विषय है। जो लोग यह मानते हैं कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री हिन्दुत्व के पक्षपाती थे और **हिन्दू राष्ट्र का नव-निर्माण** पुस्तक में उन्होंने इसी प्रकार की विचारधारा को स्थान दिया है, उन्हें चाहिए कि वे इस पुस्तक के आधार पर भारत के नवनिर्माण के लिए जो संकेत दिए गए हैं उन पर गंभीरता से विचार करें।

साहित्य, संस्कृति और सभ्यता का इतिहास उनके प्रिय विषय थे। विवेक और संयम के क्षणों में शास्त्री जी का ध्यान इतिहास पर ही रहता था। **भारतीय संस्कृति का इतिहास, सभ्यता के विकास की कहानी, बुद्धपूर्व भारत की संस्कृति** शीर्षक पुस्तकें उनकी इतिहास की अभिरुचि के प्रमाण हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उस इतिहास में श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र ने 16 पृष्ठ की विस्तृत भूमिका लिखकर इस इतिहास को हिन्दी साहित्य का वास्तविक गम्भीर इतिहास माना है। मिश्र बन्धुओं की दृष्टि में इस इतिहास को हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अनुसंधानपूर्ण इतिहास मानना चाहिए। सूचनाओं की दृष्टि से जितनी सामग्री इस इतिहास में शास्त्री जी ने एकत्र की है उतनी किसी दूसरे हिन्दी सहित्य के इतिहास में उपलब्ध नहीं है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की देन का मूल्यांकन करते समय उनके कृतित्व के सभी पहलुओं पर दृष्टि डालना आवश्यक है। उनका लेखन अतीत और वर्तमान से जुड़ा हुआ है। उन्होंने अतीतोन्मुखी अंधविश्वासी दृष्टि से अतीत को नहीं देखा। उनकी दृष्टि कार्य-कारण संबंध से संयुक्त होकर अतीत में झांकती थी। इसलिए अतीत का वरेण्य उनके लिए ग्राह्य होता था। उपन्यास और कहानियों में इतिहास की घटनाएं तथा वर्तमान युग का यथार्थ चित्रण ही उन्हें अभीष्ट था। उन्होंने राजा-महाराजा, जागीरदार, तालुकदारों, सेठ-साहूकारों के बीच रहकर जो देखा, उसे निर्भीक शैली में लिखा और दलित-शोषित वर्ग का जो क्रन्दन सुना उसे अपनी कराह में शामिल कर शब्द द्वारा ध्वनित किया। शास्त्री जी का कथा-साहित्य इसीलिए संवेदनीय तथा सम्प्रेषणीय बना रहा। मूल्यांकन की कसौटी धारण करने

वाले आलोचक यदि अपने निकष पर उनके साहित्य की सही परख नहीं कर सके तो इसमें रचनाकार का क्या दोष है ?

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपने लेखन में स्थान-स्थान पर साहित्य-सिद्धांतों की भी चर्चा की है। ये साहित्य-सिद्धान्त किसी शास्त्रीय मान्यता के आधार पर स्थिर नहीं किए गए हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में उन्होंने इतिहास को तोड़-मरोड़कर जिन पात्रों का सर्जन किया है, वह सकारण है। कहीं-कहीं आदर्शवादिता के प्रभाव में और कहीं यथार्थ चित्रण के आवेश में उन्होंने बहुत सी बातें अपनी कल्पना से लिख दी है। **सोमनाथ** उपन्यास में तो उन्होंने इन दोनों प्रकार के आवेश और आवेग-चक्र को उभार कर प्रस्तुत किया है। शास्त्री जी अपने को मानववादी लेखक मानते थे।

साहित्यकार को शास्त्री जी मानव जाति में श्रेष्ठ नायक के स्थान पर रखते थे। उनका कहना था कि भावी भारत को व्यवस्थित करने में साहित्यकार ही एकमात्र सहायक होगा, राजनीतिज्ञ नहीं। एक बार राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद से वार्तालाप में उन्होंने यही सिद्ध करना चाहा था कि साहित्यिक जनों को गाँधी जी के सत्य और अहिंसा के तत्वों को अपनी साहित्य भावना में आत्मसात करना चाहिए। **पगध्वनि** नामक नाटिका में उन्होंने इसी भाव को व्यक्त किया है। देश के आजाद होने के बाद वे स्वदेशी सरकार से प्रसन्न नहीं थे। चार-पाँच वर्ष के भीतर ही उन्हें ऐसा लगने लगा था कि यह सरकार साहित्यकारों का कोई भला नहीं कर सकती। हम उस राज्य में प्रतिष्ठित नागरिक नहीं हैं। प्रतिष्ठित नागरिक कदाचित वे फिल्म तारिकाएं हैं जिनके साथ खड़े होकर नेतागण फोटो खिचवाते हैं या कोई मिनिस्टर जिनके घर नित्य दिन में ईद और रात में दिवाली मनाई जाती है और जिन्हें अपने विभागों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान और दायित्व नहीं हैं अथवा वे घूसखोर और चोरबाजारी करने वाले उठाईगीर, जो आए दिन सरकारी दावतों में पंचसितारा होटलों की शोभा बढ़ाते हैं। "हम लोग तो (साहित्यकार) सड़क के किनारे खड़े होकर उनकी बड़ी-बड़ी मोटरों को आते-जाते देखकर अपनी आँखें धन्य कर सकते हैं, यदि पुलिस के धक्के खाने की जोखिम बर्दाश्त कर सकें तो।" (मेरी आत्मकहानी, पृष्ठ 270)

देश भक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा – "देशभक्ति भारत में अंग्रेजों के साथ-साथ आई। इसे हम पाश्चात्यों का देवता कह सकते हैं। वैदिक काल में आर्यों के देवता इन्द्र थे, अशोक काल में बुद्ध, शकों के काल में महादेव और गुप्तों के काल में वासुदेव। उसी प्रकार अंग्रेजी राज्य में भारत का सबसे प्रधान देवता हुआ 'देश'। ज्यों-ज्यों भारत में सत्तावन के विद्रोह के बाद अंग्रेजी अमल जमकर बैठता गया, यह नया देवता हिन्दू समाज के मध्य वर्ग को सर्वप्रिय होता गया। मुसलमानों ने हिन्दूओं पर अल्लामियाँ को लादने के लिए बड़े-बड़े जोर ज़ुल्म

किये परन्तु हिन्दुओं ने उस देवता को राजी-खुशी स्वीकार नहीं किया। पर इस पाश्चात्य देव को हिन्दू समाज के सब अंग ब्राह्मण, आर्य, जैन, सिख आदि सर्वोपरि देवता समझते चले गए। कहना चाहता हूँ कि इस देवता पर सत्तावन के विद्रोह के बाद से अब तक सभ्य युग में जितनी नर बली दी गई उतनी शायद ही किसी देवता को जंगली युग में दी गई होगी। इसलिए पाश्चात्य संस्कृति पर भी यहाँ दो शब्द कहने पड़े जो इस देश देवता की आधारशिला है।" (मेरी आत्मकहानी, पृष्ठ 271)

अपनी मातृ भाषा और राष्ट्रभाषा के संबंध में चतुरसेन जी ने अनेक स्थानों पर बहुत संयत और विवेकपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। सन् 1959 में आचार्य चतुरसेन सपत्नीक मद्रास गए थे। उसका उन्होंने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। **'बिना चिराग का शहर'** और **'पत्थर युग के दो बुत'** शीर्षकों से दो उपन्यास उन्होंने दक्षिण यात्रा के समय ही लिखे थे। दक्षिण भारत का वर्णन करते हुए उन्होंने यह लिखा है कि "भारत के दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा दक्षिण भारत अधिक साक्षर है। कहीं-कहीं तो यह साक्षरता 80 प्रतिशत तक पहुँची है इस प्रकार अपनी भाषा को प्रेम करने वाले लोग भी हिन्दी को अपना रहे है। आज दक्षिण में हिन्दी भाषा-भाषी तथा हिन्दी में साक्षरों की संख्या लाखों में है तथा हजारों ही जन हिन्दी सहित्य के प्रेमी और ज्ञाता भी आज दक्षिण भारत में हैं। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के उपाधिधारी 15,000 के लगभग हैं और उनमें से पाँच सौ से अधिक विश्वविद्यालयों के उपाधिधारी हैं जिनमें हिन्दी के विद्वान बी.ए. तथा एम.ए. तथा भाषा प्रवीण भी सम्मिलित हैं। हिन्दी के लेखकों तथा पत्रकारों की संख्या भी बढ़ रही है। महत्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के कार्य में जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त है तथा दक्षिण भारत की भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों की मान्यताएं भी उसकी परीक्षाओं को प्राप्त है। सभा में पाँच हजार के लगभग कार्यकर्ता हैं जिन्हें सभा ने ही शिक्षित किया है। वे दक्षिण भारत के कोने-कोने में फैले हुए हैं तथा देश के महत्वपूर्ण कार्य में हाथ बंटा रहे हैं। सभा की प्रादेशिक संस्थाएं तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल और आन्ध्र प्रदेश के राज्यों में स्थापित होकर प्रचार कार्य कर रही हैं। सभा के पास अपना प्रेस है और इस प्रेस में दस भाषाओं में छपाई की सुविधा है। इस सभा के महत कार्य के संचालन का श्रेय सभा के प्रधान श्री एम. सत्यनारायण और उनके सहयोगियों को है जो सम्पूर्ण भारत के श्रद्धा तथा आशीर्वाद के पात्र हैं। गाँधी जी के आदेश पर गाँधी जी के लिए किए सांस्कृतिक भूल्य सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र के लंका प्रयाण की अपेक्षा कम नहीं है। मैंने दक्षिण भारत का पर्यटन किया और वहाँ के रमणीय स्थानों को देखा।"

आल इंडिया राइटर्स कांफ्रेंस की बैठकों में मुझे जो सबसे अधिक खटकने वाली बात लगी वह थी विदेशी भाषा का प्रयोग। इस कांफ्रेंस में चारों तरफ अंग्रेजी का ही डंका बज रहा था। अंग्रेजी का ही सर्वत्र बोलबाला था। वेशभूषा में सब भारतीय थे। सरल, उज्ज्वल भारतीय सर्वथा और जिह्वा पर अंग्रेजी का धारा-प्रवाह। निस्संदेह यह एक जबरदस्त कठिन समस्या है कि जहाँ भिन्न-भिन्न देश के भाषा-भाषी एकत्र हों, जो एक दूसरे की भाषा को न समझ सकें – वहाँ एक सम्पर्क की भाषा होनी चाहिए। पर वह सम्पर्क भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती, कोई भारतीय भाषा ही हो सकती है। अब से 10-15 वर्ष पहले यह था कि दक्षिण में अंग्रेजी सम्पर्क भाषा थी। केवल उत्तर भारत ही की बात नहीं – दक्षिण के चार विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्त भी आपस में अंग्रेजी के माध्यम से ही भावों का आदान-प्रदान करते थे। परन्तु आज जब अंग्रेज भारत को छोड़ गए तो अंग्रेजी को हम अपने लिए सम्पर्क भाषा कैसे रख सकते हैं ? मुझे बड़ी आशा थी कि मैं दक्षिण में हिन्दी के उदीयमान स्वरूप को देखूँगा, पर यहाँ कांफ्रेंस के इस अंग्रेजी वातावरण को देखकर मेरी वह आशा धूल में मिल गई और आतिथ्य में जो आत्मीयत और प्रेम वहाँ देखकर मेरा मन खिल रहा था – खिन्न हो गया।"

शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद को लिखा गया एक पत्र। यह पत्र चतुरसेन जी ने मौलाना को भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में आयोजित भारतीय साहित्य सम्मेलन के अवसर पर मौलाना के विचारो के प्रतिकूल लिखा था। यह पत्र शास्त्री जी के हिन्दी प्रेम तथा भारतीय भाषा प्रेम को प्रकट करने वाला है – "माननीय महोदय, आपने तारीख 15 मार्च के दिन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में आयोजित प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए निम्नलिखित भाव प्रकट किए हैं –

"आधुनिक भारतीय भाषाओं में केवल उर्दू और बाङला ने ही अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा हासिल किया है। पिछली कुछ शताब्दियों में उन्होंने असाधारण उन्नति की है। आधुनिक हिन्दी जो अरबी और ब्रजभाषा से सर्वथा भिन्न है केवल इसी शतक में विकसित होने लगी है। यद्यपि हिन्दी का साहित्य मात्रा और परिमाप की दृष्टि से बहुत बड़ा है किन्तु किस्म की दृष्टि से वह विश्व में स्थान पाने योग्य नहीं है।" (अबुल कलाम आजाद के भाषण का अंश)

"यह पत्र मैं आपके उपर्युक्त उद्‌गारों के विरोध में लिख रहा हूँ और इसके समर्थन में अपनी एक तुच्छ रचना **'वैशाली की नगरवधू'** आपकी सेवा में भेज रहा हूँ और अत्यन्त आग्रहपूर्वक आपसे निवेदन करता हूँ कि आप किसी ऐसी उर्दू की पुस्तक का नाम बताएं जो कथा साहित्य में इसकी समता कर सके। यदि आप कविता की समता करना चाहें अथवा कला, विज्ञान, दर्शन, आलोचना एवं साहित्यशास्त्र पर उर्दू की तुलना करना चाहें तो मैं बड़ी खुशी से आपकी

सेवा में ऐसी कम से कम पाँच सौ पुस्तकों के नाम आपके पास भेज दूँगा जिनका निर्माण केवल पिछले 26 वर्ष में हुआ है और जिनमें एक भी पुस्तक की समता उर्दू की कोई पुस्तक नहीं कर सकती। मैं आप पर यह बात भी प्रकट कर दूँ कि सरकारी और अर्द्धसरकारी साहित्यिक और सांस्कृतिक गोष्ठियाँ होती हैं उनमें उन साहित्यकारों को याद भी नहीं किया जाता जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कांग्रेस या कांग्रेस सरकार से संबंध न रहा हो या जिनमें आगे बढ़कर आत्मविज्ञापन की आदत न हो। इसके प्रमाण में यही उदाहरण काफी है कि इन्हीं दिनों लाल किले में जो सांस्कृतिक सम्मेलन हो रहा है उसमें मेरी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा गया। इस पत्र के साथ इस संबंध की जानकारी आपके लिए कौतूहलवर्द्धक होगी। इस विचार से मैं आपकी सेवा में उस विरोध पत्र की नकल भी भेज रहा हूँ जो मैंने कल ही सम्मेलन के मंत्री महोदय को लिखा है। इसकी आवश्यकता मुझे इसलिए पड़ी कि आप यद्यपि भारत के माननीय शिक्षा मंत्री हैं तथापि मेरा विश्वास है कि आप मेरा न नाम जानते हैं न मेरे साहित्य से ही आपका कुछ परिचय है। क्योंकि भारत के दुर्भाग्य से भाषा की भिन्नता के कारण आप हिन्दी साहित्य तथा साहित्यकारों से सर्वथा अज्ञात हैं। इसी से संभवतः केवल सुनी सुनाई बातों के आधार पर आपने उक्त वक्तव्य दिया है, ऐसा मैं समझता हूँ, इसीलिए जिसमें माननीय शिक्षामंत्री गलतफहमी में न रहें, मैं यह पत्र लिख रहा हूँ।"

भवदीय
चतुरसेन

इस पत्र के उत्तर में मौलाना आजाद के प्राइवेट सैक्रेटरी का अंग्रेजी में उत्तर मिला। शास्त्री जी को दो पंक्तियों के उत्तर से कोई सन्तोष नहीं हुआ इसलिए शास्त्री जी ने पुनः मौलाना आजाद से मिलने के लिए समय की प्रार्थना की। इस पत्र का उत्तर अनुकूल न पाने पर उन्होंने पुनः एक लम्बा पत्र लिखा–

प्रिय महोदय,

"आपका 19 नवम्बर का पत्र मिला। मैं खुश हूँ कि इस गणराज्य में एक ऐसा भी मंत्री है, जो अपने कर्तव्यपालन में इतना व्यस्त है कि वह एक साहित्यिक से वार्तालाप का भी अवकाश नहीं निकाल सकता। यद्यपि मुझे इसमें संदेह है। जिसका एक अति लघु प्रमाण है कि शिक्षा मंत्रालय में इतना भी इन्तजाम नहीं है कि हिन्दी पत्रों का उत्तर हिन्दी में ही दिया जाए। जबकि संविधान में हिन्दी को राजभाषा स्वीकार कर लिया गया है। आपने मुझ पर दया करके लिखा है कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह लिखकर भेज दूँ। परन्तु मैं न तो शिक्षा मंत्री का कोई अनुग्रह चाहता हूँ, न गरजमंद आदमी हूँ। मेरे वार्तालाप का विषय साहित्य संबंधी ही हो सकता है। परन्तु अब, आपके इस पत्र के पाने के बाद कुछ कहना या लिखना

मैं अपनी प्रतिष्ठा के विपरीत समझता हूँ। मेरे लिए सामयिक पत्रों के कालम खुले हैं, फिर भी आप मौलाना से मेरी ओर से यह कह सकते हैं कि वह हिन्दी के साहित्यकारों से भी थोड़ी जान-पहचान रखें तो यह न केवल शिक्षा मंत्री के कर्तव्य पालन में सहायक होगा अपितु उनके लिए साहित्यिक शिष्टाचार ही होगा। कृपया मौलाना से मेरा सलाम कह दीजिएगा।"

दिल्ली के डायरेक्टर ऑफ एजूकेशन ए. एन. बी. बनर्जी को लिखे गये पत्र का कुछ अंश। इस पत्र में चतुरसेन जी ने साहित्यकारों को आर्थिक अनुदान देने का अनुरोध किया है – "मैं साहित्यकारों की स्थिति को देखकर आपसे यह अनुरोध करता हूँ कि हम साहित्यकारों की सेवाएं सरकार के किसी भी मिनिस्टिर की सेवाओं से मूल्यवान हैं और संसार के सब सभ्य देशों की सरकारें अपने देश के साहित्यकारों को मान-सम्मान देती हैं। मैं अपनी सरकार से मान इज्जत की बात नहीं कहता, मुनासिब जमानत और शर्तों पर साहित्यकारों के लिए लोन की बात करता हूँ। मैं यह भी चाहूँगा कि डायरेक्टर ऑफ ऐजूकेशन मेरे इस पत्र को किसी नौकर की प्रार्थना-पत्र की श्रेणी में न समझें।"

पंचम अध्याय

उपसंहार

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों में सदैव एकरूपता नहीं रही। प्रारम्भ में सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों के प्रति उनका विशेष लगाव रहा। वह युग पुनरुत्थानवादी चेतना का था। उसमें राष्ट्रीय चेतना एवम् जनजागरण की भावना का प्राधान्य था। शास्त्री जी दोनों भावधाराओं से जुड़े हुए थे। वास्तव में शास्त्री जी भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ जुड़ते रहे। उन्होंने असहयोग आन्दोलन से जुड़कर जेल यात्रा तो नहीं की किन्तु महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, जवाहरलाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं के प्रति उनके मन में स्नेह और श्रद्धा का भाव सतत बना रहा। उधर सामाजिक कार्यों के क्षेत्र में आर्य समाज के कार्यों में भी योग देते रहे। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से पदार्पण नहीं किया किन्तु सन् 1921 में **'सत्याग्रह और असहयोग'** पुस्तक लिखी। उसके बाद 'सन् 21 बनाम् 30' पुस्तक लिखकर अपने राजनीतिक विषयक विचार प्रकट किये। सत्याग्रह और असहयोग पुस्तक को **'प्रताप'** के सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी ने उस समय की राजनीति की गीता ठहराया था। उनकी मान्यता थी कि ब्रिटिश शासन को भारत से उखाड़कर देश को स्वतंत्र होना चाहिए। किन्तु उनका कहना था कि केवल असहयोग करने से ब्रिटिश शासन की डेढ़ सौ वर्ष की जमी हुई जड़ निर्मूल नहीं हो सकती। फिर भी उनका मन क्रान्तिकारी उपायों से भीतर ही भीतर भरा हुआ था। इसीलिए वे लोकमान्य तिलक को तत्कालीन परिस्थितियों में वरेण्य नेता मानते थे। किन्तु यह आश्यर्च का विषय है कि सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय उन्होंने कोई सक्रिय सहयोग इस आन्दोलन को सफल बनाने में नहीं दिया। शायद आयु की प्रौढ़ता में उनका मन चिन्तन, मनन और लेखन की ओर अधिक झुक गया था। यह तो हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि युवावस्था तक उन पर आर्य समाज का गहरा प्रभाव था जो उन्होंने संस्कार रूप में ग्रहण किया था – साथ ही उन पर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण के पुनरुत्थानवाद का भी प्रभाव था जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरवगान से ओत-प्रोत था। इसी कारण उनके अन्तर्मन में भारतीयता की ऐसी व्याख्या बद्धमूल थी जो आधुनिक युगधर्म से पूरी तरह मेल नहीं खाती थी। उनके उपन्यासों में ऐसे अनेक संदर्भ आते हैं जो यह उद्घाटित करते हैं कि शास्त्री जी ने राष्ट्रीयता को जो कल्पना की थी वह भारत के स्वतंत्र

होने के बाद चरितार्थ नहीं हुई। भारत की अस्मिता के लिए उनकी दृष्टि में केवल भारत का गौरव गान पर्याप्त नहीं था! वे भारत को सांस्कृतिक, साहित्यिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से एक जीवन्त राष्ट्र के रूप में देखते थे। विदेशी शासन के प्रति उनके मन में विद्रोह का भाव था और आक्रोशपूर्ण भाषा में वे विदेशी शासन की भर्त्सना करते थे। 'सोमनाथ' उपन्यास में उन्होंने मुगल आक्रान्ताओं के वर्णन में विदेशी शासन के आतंक का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह उनकी इस मानसिकता का द्योतक है।

आधुनिक युग की राजनैतिक चेतना ने हमारी मानसिकता को विस्तृत आयाम देकर वैश्विक चेतना से जोड़ने की दिशा में जो प्रयास किया है वह बहुजातीय, बहुभाषी, बहुधर्मी राष्ट्र के रूप में होने लगी है। शास्त्री जी की मानसिकता में यह वैश्विक चेतना जुड़ नहीं पायी और शास्त्री जी पुनरुत्थान आदि जनजागरण की भावना से आगे नहीं बढ़ सके। जातीय ऐक्य की धारणा को भी वह विस्तृत आयाम नहीं दे सके और **'इस्लाम का विषवृक्ष'** जैसी पुस्तक लिख बैठे। इस्लाम आज विदेशी धर्म न होकर भारत का अपना एक प्रमुख धर्म है और यहाँ के सभी धर्मों के निवासियों के लिये यह अपना देश है।

शास्त्री जी ने अपने इतिहास संबंधी ग्रंथों में भारतीय जीवनदर्शन पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जो प्रकाश डाला है वह भारतीय संस्कृति के इतिहास के कुछ तत्वों को उद्घाटित करता है किन्तु संस्कृति और सभ्यता के विकास की पूरी जानकारी नहीं देता। अतः उन ग्रंथों के आधार पर हम शास्त्री जी के संस्कारगत जीवनदर्शन को सही तौर पर पकड़ पाने में समर्थ नहीं है। शास्त्री जी ने अपने रचनात्मक साहित्य (उपन्यास, कहानी आदि) में भारत का जो वर्णन प्रासंगिक रूप से किया है वह बताता है कि शास्त्री जी भारत की जातीय एकता से अपरिचित नहीं थे किन्तु स्वतन्त्र रूप से उन्होंने भारतीय एकता जिसमें भाषा, धर्म, जाति आदि के ऐक्य पर बल हो, कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी। इसलिए आधुनिक युग के संदर्भ में एकता के सन्देश को शास्त्री जी परिदृश्य में स्थान नहीं दे सके। भारत-विभाजन के बाद जो घटनाएं घटीं उनसे भी शास्त्री जी का मन विष्ण्ण हो गया था। किन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि शास्त्री जी भारत की एकता के प्रबल समर्थक नहीं थे। उपन्यास और कहानियों में उन्होंने अनेक स्थलों पर बहुभाषी, बहुधर्मी राष्ट्र का वर्णन किया है। भावनात्मक स्तर पर तो स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़े रहे। जवाहर लाल नेहरू के प्रति उनके मन में गहरा स्नेह और श्रद्धा का भाव था। लोकमान्य तिलक को तो वे अपना राजनीतिक गुरू मानते थे। गाँधी जी के समाज सुधार के कार्यों के प्रति उनका गहरा लगाव था और वे उनके प्रबल समर्थक भी थे। इसलिये उनकी मानसिकता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये इन बिखरे हुए सन्दर्भों को जोड़कर देखना चाहिए।

परिशिष्ट - I

1. श्री चतुरसेन शास्त्री के अर्थाभाव के कुछ संदर्भ :
2. शास्त्री जी के युद्ध और हिंसा सम्बन्धी विचार –

जब से प्रैक्टिस छोड़ी लस्टम-पस्टम खर्च चलता था। हाथ मेरा सदा का खुला है, हज़ार भी थोड़े और लाख भी थोड़े। अर्थ कष्ट प्रायः बना ही रहता था। परन्तु बैठा था तो कुछ होता ही था। अब जो खर्च का भार पड़ा, तो पहले सारे जेवर गए। फिर फालतू चीजें और उसके बाद जो काम मेरी पत्नी को करना पड़ा, उसके लिए मैंने आज तक उन्हें क्षमा नहीं किया। मेरी चालीस वर्षों से संचित सब मासिक पत्रिकाओं की फाइलें, जिनमें इन्दु, सुधा, माधुरी, चाँद, सरस्वती, प्रभा, गृहलक्ष्मी, शारदा आदि अनेक थीं, सभी को रद्दी में बेच-बेचकर अपने लिए दो कौर अन्न और मेरे लिए पथ्य जुटाया। इन दिनों गौतम बुक डिपो, दिल्ली **'वैशाली की नगर वधू'** सहित बीस पुस्तकें छाप और बेच रहे थे। एक बार भी यह प्रकाशक इस विपत्ति में मुझे देखने नहीं आया, एक पैसा रायल्टी नहीं दिया, जबकि हजारों का हिसाब उनकी तरफ निकलता था। दुलारे लाल भार्गव पर 8-10 पुस्तकों की रायल्टी और **'आरोग्य शास्त्र'** का हजारों रूपया बकाया था। पर एक बार जब चन्द्रसेन उनसे कुछ मांगने गए – तो एक अठन्नी पर्स से निकाल कर उन्होंने बड़ी लाचारी दिखाते हुए कहा – इस वक्त तो यही है।"

"विपत्ति यहीं समाप्त नहीं हुई, एक भले आदमी की मैंने जमानत दी थी। वह रकम उस भले आदमी ने नहीं अदा की, इससे पावनेदार इस अवसर पर कुर्की लेकर आ पहुँचा। इस समय मेरी असहाय स्त्री एक ओर जहाँ चुपचाप, जिसमें मेरे कान में भनक भी न पड़े, इन सब आर्थिक आपदाओं का सामना कर रही थी, उधर मेरे प्राण झूले पर झूल रहे थे। बहुत बार कठिन क्षण आये, एक बार तो नाखून और अंग नीले पड़ गये, मूत्र परीक्षा करने पर डाक्टर ने कहा – शायद ही आज का दिन निकले। पता नहीं, किसी दैवी शक्ति ने मुझे बल दिया। सारी पृथ्वी पर उस रात मेरी शैय्या के पास केवल तीन थे – पत्नी, माता जी और चन्द्रसेन। सबके ऊपर भाग्य।"

"विपत्तियाँ और भी टूटीं। परन्तु अन्ततः मेरे जीवन की रक्षा हो गई। जीवन रक्षा का क्षेत्र न चिकित्सा को न औषध को, न लोगों की अथक सेवा को। प्राण रक्षा हुई मेरे अटूट आत्मबल से। अभी मेरे हाथों **'सोमनाथ'** और **'वयंरक्षामः'** जैसा साहित्य-धन का अर्जन होना था और भी कुछ होने वाला था।"

शास्त्री जी के युद्ध संबंधी विचार

"यह 'युद्ध' यद्यपि मानव की सम्पत्ति नहीं – पशु की प्रकृति है, परन्तु मानवता के बाल काल से लेकर आज तक मानव जीवन के विकास का महत्तर आधार 'युद्ध' है। 'युद्ध' ही में महाजातियों की चरम शक्तियाँ निहित और केन्द्रित रही हैं। युद्ध ही ने जातियों का निर्माण किया है। 'युद्ध' को संक्षेप में हम मानव जीवन और उसकी सम्पदा के विकास का आधार ही कह सकते हैं। युद्ध ही मानवीय सभ्यता का इतिहास है। 'युद्ध' मानव की सबसे बड़ी सामर्थ्य है, अतः मानव अपने जीवन के शैशवकाल ही से युद्ध को अपने जीवन में लिप्त करता आया है। उसने युद्ध को इतना प्यार किया है कि आश्चर्यजनक उल्लास और वेग से उसने अपने प्राण और प्राणाधिक पदार्थ युद्ध की भेंट किए हैं, और जिसने जितना अधिक यह किया है, साहित्य ने अतिपुरुष कहकर उसका कीर्तिगान किया है। परन्तु 'युद्ध' मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं, पशु की प्रकृति है। फिर किसलिए पुरुष ने अपनी सम्पदा, प्राण और पौरुष इस युद्ध को भेंट किए हैं ? किसलिए मनुष्य की इस पशुवृत्ति की कविजनों ने प्रशंसा कर मेदिनी को ध्वनित कर दिया है ? इसका एक ही सत्य और गम्भीर उत्तर है – वह यह कि मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण मनुष्य नहीं हो पाया, वह पशुत्व से थोड़ा ही विकसित एक 'प्रगतिशील पशु' रहा है, इसी से उसने अपने विकास की सारी ही प्रतिभा और प्रगति पशुत्व के इस महान प्रतिनिधि 'युद्ध' के विकास में व्यय की है और यह 'अणु महास्त्र' इस दिशा में उसके चरम उद्योगों का एक नूतनतम परिणाम है।"

परन्तु सम्भवतः वह मानव मस्तिष्क में चिरधिष्ठित 'युद्ध तत्व' का पूर्ण विराम है। इस महास्त्र के प्रादुर्भाव ने अब तक विकसित सम्पूर्ण युद्ध कला को निरर्थक कर दिया है। अब मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं – या तो वह अपने अपूर्ण मानव तत्व को एक बारगी ही त्याग कर सम्पूर्ण पशु बन जाय तथा इस और इस जैसे महास्त्रों से अपना सर्वतोभावेन विध्वंस कर ले, या अपने में व्याप्त पशुत्व को एक बारगी ही निकाल फैंके, और 'पूर्ण पुरुष' होकर विश्व-सम्पदाओं का निर्भय भोग करे। निश्चय ही उसे दूसरा मार्ग चुनना होगा।

मनुष्य में जो रोष है यही पशुत्व का प्रतीक है। मानुष में मानुष का प्रतीक 'विचार' है। वह जब तक 'विचार' के आधीन रहता है 'रोष' सुप्त रहता है, परन्तु विचारहीन होते ही वह रोषाभिभूत होकर जितना उसमें मानुष तत्व है, उतना ही अधिक हिंस्र बन जाता है, क्योंकि उसकी विचारसत्ता रोष की गुलाम बन जाती है।

"पशु रोष में आवेशित होकर जब युद्ध करता है – तब वह अनिवार्य रूप से मृत्यु को वरण करता है। अल्प कारण ही से वह उस प्राणघाती मार्ग पर चल पड़ता है, क्योंकि वही उसकी प्रकृति है। परन्तु मानुष ऐसा नहीं करता, वह रोषावेश में भी बलाबल, कारण और साधनों पर दृष्टि रखता है, पराजित होने पर वह रोष

का दमन कर लेता है, इसलिये कि फिर वह बदला लेगा। यह सब वह उस विचारसत्ता के द्वारा करता है जो वास्तव में उसके मानुष तत्व का प्रतीक थी, परन्तु अब वह रोषाधीन हो गई है।"

"फिर बदला लेने की भावना-तमोगुण-बहुला है। इसके लिए उसे नई विरोधिनी शक्तियों को जुटाने में विकट श्रम करना पड़ता है तथा समय पाकर वह फिर 'युद्ध' करता है। इस युद्ध में वह चाहे हारे, चाहे जीते, पर इच्छा और आशा जीतने की ही रखता है। कारण, प्रतिस्पर्द्धी की शक्ति के विषय में वह संदिग्ध है।"

बाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए शास्त्री जी ने अपने **वयंरक्षामः** उपन्यास में अनेक स्थलों पर विशेषणों से परिपूर्ण समास शैली में गद्य का प्रयोग किया है। आज की हिन्दी गद्य शैली से उसका मेल नहीं बैठता। शास्त्री जी ने इस उपन्यास में अनेक स्थलों पर सम्पूर्ण वाक्यावली संस्कृति में ही रची है। इस उपन्यास का समर्पण–पत्र भी तत्कालीन राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद के प्रशस्तिपूर्ण समर्पण में है। सम्पूर्ण समर्पण संस्कृत में ही लिखा गया है जो इस प्रकार है –

"सकलकलोद्भासितपक्षद्वय – सकलोपधा-विशुद्ध – मखशतपूत – प्रसन्नमूर्ति – स्थिरोन्नत – होमकरज्वल – जयोतिर्ज्योतिमुख – स्वाधीनोदारसार – स्थगितनृपराजन्य – शतशतपरिलुठन्मौलि – माणिक्यरोचिचरण – प्रियवाचा – मायातन – साधुचरितनिकेतन – लोकाश्रयमार्गतरू – भारत – गणपति भौमब्रह्म – महाराजामिध – श्री राजेन्द्रप्रसादाय झजातशत्रवे अद्यगणतन्त्रारण्ये पुण्याहे भौमे माधमासे सितदले तृतीयायां वैक्रमीये – कलाधरेश्वर – शून्यनेत्राद्वे, निवेदयामि सान्जलिर्स्वीयंसाहित्य कृतिं वयंरक्षाम इतिसामोदमहं चतुरसेनः।"

शास्त्री जी के सुप्रसिद्ध गद्यकाव्य **अन्तरत्तल** के कुछ उद्धरण :

प्रथम मिलन की स्मृति का परिचय देते हुए लेखक ने इस प्रकार वर्णन किया है –

"जब सूर्य धीरे-धीरे जल में डूब रहा था और तारे उसके स्थान को ग्रहण कर रहे थे, तुम शुभ्र शिला-खण्ड पर पड़ी तल्लीन हो – उस अस्तगत सूर्य को देख रही थीं। धवल अट्टालिका और आकाश का रक्त प्रतिबिम्ब जल में कांप रहा था।

मैं तुम्हारे निकट आया और तुम्हें कम्पित हाथों से उठा लिया। तुम 'नहीं' न कह सकीं, केवल सलज्ज हास्य में झुक गईं।

उस स्पर्श से ही, उसी क्षण सम्पूर्ण तारुण्य मुझमें जाग्रत हो गया और सम्पूर्ण प्रेम तुममें। उस समय पृथ्वी भर के पुष्पों का सौरभ लेकर वायु तुम्हारी अलकावलियों से खेल रहा था।

परन्तु प्रिये, उस संध्या की वह सन्धि कितनी कच्ची थी ?"

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण :

"उस क्षण में अपने को भूल गई। टकटकी लगाए तुम्हारी ओर देखने लगी। हृदय उमग आया। अंग-अंग पुलकित हो गया। गला भर आया, आँखें झूमने लगीं। तुम्हारी रूप-माधुरी ने और भी प्रमत्त कर दिया। क्या उन्हें ऐसी 'पेया' फिर कभी पीने को मिलेगी ?"

"मृत्यु कष्टप्रद है। मृत्यु के कारण मनुष्य की सब इच्छाएं और अभिलाषाएं अधूरी रह जाती हैं, यह सामान्य अनुभव की बात है। अन्तस्तल में शास्त्री जी ने इसी भावना को लेकर मृत्यु को भयंकर कष्टप्रद लिखा है –"

"हरे राम ! तुझे दया नहीं है। कैसी निठुर है मूर्तिमयी हत्यारी। ऊपर क्यों चढ़ी आती है ? ना ना छूना मत। हाथ मत लगाना। छूते ही मर जाऊँगा। हाय ! हाय !! सब यहीं रहे ? मैं अकेला चला। कुछ भी पहले से मालूम होता तो तैयारी कर लेता। भगवान का नाम जपता, पुण्य धर्म करता। कुछ भी न कर पाया। विश्राम के स्थल पर पहुँचकर एक सांस भी अधाकर न ली कि डायन आ गई। हे भगवान। हे विश्वम्भर। हे दीनबन्धु। हे स्वामी ! हा नाथ। हे नाथ ! हे नाथ ! तुम्हीं हो – तुम्हीं हो – तुम्हीं।"

जीवन का परम पुरुषार्थ मुक्ति है, शास्त्री जी ने अन्तस्तल में मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है –

"बड़ा मजा है, बड़ा आनन्द है, बड़ा सुख है। कभी नहीं मिला था। मानो मैंने स्नान किया है। या ? ठहरो सोचने दो, कुछ भी समझ में नहीं आता ? मानो तंग कोठरी से निकल कर स्वच्छ हरे भरे मैदान में आ गया हूँ। ··मैं अनन्त में फैल गया हूँ। न आदि है न अन्त, न रूप है न स्पर्श, केवल सत्ता है। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। अब अप्रकट कुछ नहीं। प्राप्य कुछ नहीं। महान कुछ नहीं। किसी का अस्तित्व नहीं दिखता। केवल मैं हूँ। मैं वहीं हूँ। यह वही है। यही है वह।"

भावों के विश्लेशण में आचार्य जी ने या तो भाव-विशेष की परिस्थिति का चित्र खींचा है या उस भाव की प्रतिक्रिया का वर्णन किया है जिससे उस भाव का स्परुप हृदयंगम हो सके। भाव की प्रतिक्रिया का रूप 'गर्व' में देखिए। गर्व में मनुष्य वास्तविक स्थिति को भूलकर बड़बड़ाता है –

"लड़ लो, चाहे जिस तरह लड़ लो। धन में, बल में, विद्या में, खर्च में। चार कौड़ी क्या हुई, सालों के सींग निकल आए। धरती पर पैर नहीं टेकते। कुछ परवाह नहीं। ईंट-से-ईंट बजा दूंगा। या मैं नहीं या वह नहीं। मैं हूँ मैं। किसकी मजाल है ? किसकी माँ ने धौंसा खाया है ? किसकी छाती पर बाल है ? पेशाब में मूंछ मुंड़वा लूंगा। दाढ़ी का बाल उखड़वा लूंगा। वह मैं हूँ। मेरा नाम क्या साले जानते

नहीं है। किसने मुझे अब तक नीचा दिखाया ? जो उठा वही खटमल की तरह मसल दिया। दम क्या है ? किस बूते पर उछलते हैं ? साले पतंगे हैं, पतंगे। बे मौत मरते हैं। किसी ने सच कहा है – चिउंटी के जब पर भये, मौत गई नियराय। यहाँ तो मेरी चलेगी। मेरी ही मूंछ उठेंगी। वह सारी सम्पदा मैंने अपने भुज-बल से पैदा की है। कितनों को ऋण देता हूँ। कितने मेरा टुकड़ा खाते हैं। कितने मेरे हाथ से पलते हैं।

ऐसी ही सजीव भाषा में उन्होंने रूप, प्यार, वियोग, अतृप्ति, दुख, अनुताप, शोक, चिन्ता, लोभ, क्रोध, निराशा, घृणामय, अशान्ति, कर्मयोग, दया, वैराग्य, मृत्यु, रुदन, लालसा आदि का वर्णन किया है। हिन्दी में शास्त्री जी ने जैसा भाव-चित्रण किया है, वैसा कोई दूसरा गद्यकाव्य लेखक नहीं कर सका, यह निर्विवाद सत्य है। (डा॰ कमलेश)

शैली की दृष्टि से भी शास्त्री जी का **'अन्तस्तल'** मार्मिक है। तरंग शैली जो धारा ओर विक्षेप-शैली के बीच की वस्तु है, जिसमें भाव लहराते हुए से प्रतीत होते हैं और तरंग की भाँति उठते गिरते से लगते हैं, इस शैली का प्रतिनिधित्व शास्त्री जी ने किया है। निम्नलिखित उद्धरणों में तरंग शैली में शास्त्री जी की झलक मिलती है –

"सिर्फ हजार रूपये की ही तो बात थी ? वह भी नहीं दे सका। देना एक ओर रहा – पत्र का उत्तर तक नहीं दिया। एक दो तीन चार सब पत्र हजम किए ? सब पचा लिए ? यही मित्रता थी ? मित्रता ? मित्रता कहाँ है ? मित्रता एक शब्द है, एक आडम्बर है, एक विडम्बना है, एक छल है – ठीक छल नहीं, छल की छाया है। वह भूत की तरह बढ़ती है, रात की तरह काली है, पाप की तरह कांपती है।"

रस की दृष्टि से 'शान्त रस' का उदाहरण द्रष्टव्य है –

"वाह री दुनिया। वाह रे संसार। वाह री चमक। अच्छा झांसा दिया, अच्छा भटकाया, अच्छा उल्लू बनाया, अच्छा फन्दे में फंसाया। समय नष्ट हो गया अलग और बदले में मिला ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, मत्सर। राम-राम। भगवान का धन्यवाद है। अन्त में मार्ग मिला तो। वाह ! वाह ! कैसा सीधा मार्ग है, कैसी शांन्ति है, कैसा सुख है। कुछ चिन्ता नहीं, किसी बात की चिन्ता नहीं। भूख लगी है तो लगा करे, हम क्या करें, मिलेगा तो खा लेंगे। शीतलता है तो लगा करे, उसके लिए क्या हम चिन्ता करें ? हम नहीं, हमसे यह न होगा। हम किसी के लिए कुछ न करेंगे। हम तो बादशाह हैं।"

शास्त्री जी की वर्णन-शैली बहुत रोचक है, जिसका एक उदाहरण **'अन्तस्तल'** में द्रष्टव्य है –

"यह सच है कि सुख में प्रलोभन है, पर मैंने उसे चखना एक ओर रहा, छूकर

भी नहीं देखा। यह खैर हुई। वरना क्या होता ? आज क्या यह पत्र लिख सकती ? मन इतना साहस कहाँ पाता ? आँसू आ रहे हैं, शरीर का रक्त मस्तक में इकट्ठा हो रहा है और नसों की तन्त्री झनझना रही है। रह-रहकर मन में आता है इस पत्र को फाड़ दूँ। यह असम्भव है। इतनी हिम्मत से – इतने साहस से – इतनी वीरता से जो पत्र लिखा है उसे फाडूँगी नहीं। क्या आप इसका मूल्य समझेंगे।"

नाटकों के स्वगत-कथन का प्रभाव गद्य काव्यों पर पड़ा है। इसमें स्वयं किसी से वार्तालाप-सा किया जाता है। चतुरसेन शास्त्री जी ने विशेष रूप से इस शैली को अपनाया है। **'स्वगत शैली'** का एक उदाहरण **'आशा'** नामक शीर्षक में इस प्रकार है –

"आशा आशा !! अरी भली मानस। जरा ठहर तो सही, सुन तो सही, कहाँ खींचे लिये जा रही है ? इतनी तेजी से, इतने जोर से ? आखिर सुन तो कि पड़ाव कितनी दूर है ? मंजिल कहाँ है ? और छोर किधर है ? कहीं कुछ भी तो नहीं दिखता। क्या अन्धेर है। छोड़, मुझे छोड़। इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज आया। पड़ा रहने दे, मरने दे। अब और दौड़ा नहीं जाता। ना, ना अब दम नहीं रहा। यह देखो हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गए, सांस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी ? सत्यानाशिनी किस सब्ज बाग का झांसा दिया ? किस मृगतृष्णा में डाला मायाविनी ? छोड़ छोड़ मैं तो यहीं मरा जाता हूँ।"

वरलाग्नि गद्यकाव्य के कुछ उदाहरण

लोकमान्य तिलक

कर्मयोग का पुण्यपर्व आया।
कैलाश रौद्र तेज से ओत प्रोत हो, उत्तर के उतुंग हिमाचल-श्रंग से उठ कर दक्षिण मे आसीन हुए।
यम ने दक्षिण दिशा का त्याग किया।
भारत के भाग्य फिरे।
दक्षिण में भारत का ध्रुव उदय हुआ।
पुण्यवती पूना को तिलक मिला।
नव्य काल का महाभाग बाल वहाँ अवतीर्ण हुआ।
पृथ्वी ने उसे गरिमापूर्ण गाम्भीर्य दिया।
जल ने उसका हृदय निर्माण किया।
तेज स्वयं शुभदृष्टि में आसीन हुआ।
वायु ने सूक्ष्म गमन की शक्ति प्रदान की।
आकाश ने विविध विषय व्यापकता दी।
चण्डातप ने दुर्घर्ष तेज दिया।

वज्रपाणी ने दन्तावलि को वज्रद्युति दी।

यम ने अमरत्व का पट्टा दिया।

महालक्ष्मी उसके दुपट्टे की कोर पर बैठी।

शारदा कण्ठ का हार बनी।

बालारुण ने रश्मियों के प्रतिबिम्ब से पगड़ी को लाल किया।

इस प्रकार वह देव जुष्ठ सत्व तिलक बन कर भारत के मस्तक पर शोभायमान हुआ।

कैलाश के समान धवल और महान, विश्वसंगीत की वीणा की मूर्छना के समान प्राण संजीवक और युग की विभूति के समान अमोध उनका व्यक्तित्व था, पृथ्वी का नर लोक उनके सम्मुख अवनत मस्तक किये खड़ा था, महादेवी शारदा उन्हें अभिषिक्त कर चुकी थीं।

उस दिन उन्हें, उस आनन्दीबन्दी की वुभुक्षित शैया के किनारे, कारागार के उस ऐतिहासिक आम्रवृक्ष के नीचे नतमस्तक खड़े देख, भारत के नेत्र विमूढ़ हो गये ? शुभ्रता की वह गंगा जो भारती के इस वरद पुत्र की आत्मा से प्रवाहित हो रही थी – जब अनायास ही उस तरलाग्नि में मग्न हो गई तो मानो कवित्व कल्पना जगत से सत्य में ओत प्रोत हो गया।

महात्मा गाँधी

सबका एक मत था, एक वेश था, एक भाव थे, वे अबोध शिशु की भाँति उसकी आज्ञा के अधीन थे, उसने कहा –

"अकम्पित रहो,

अभय रहो,

मरने का अवसर कभी न खोओ,

कभी किसी को मत मारो,

आत्मनिर्भर रहो,

अहिंसा और सत्य, तुम्हारा बल है,

तकली और चर्खा तुम्हारा शस्त्र है,

सब सहमत हुए, उसके बाद उसने धनकुबेरों की ओर दृष्टि की। देखते ही देखते करोड़ रूपयों का मेह बरस गया।

भारत

नव्य भारत पृथ्वी भर के राजनैतिक पण्डितों के लिये अध्ययन करने का महत्त्वपूर्ण विषय हो उठा है। संसार की तीनों महाशक्तियों – यूरोप, अमेरिका और रूस भारत की ओर टकटकी लगा देख रहीं हैं। यूरोप ने ऐशिया को हर तरह कुचल कर उसका रक्तपान किया था। अमेरिका विकसित यूरोप की मिश्रित

जातियों का एक महत्त्वपूर्ण विकास था, जिसने अध्यवसाय, साहस और संगठन के जोर पर अपनी वह हैसियत पैदा की थी कि वह चाहे जब प्रतापी यूरोप को लात मारकर नीचे गिरा सकता था। किन्तु ऐशिया, जो प्राचीन महाराज्यों और महाशक्तियों का एक विस्तृत भूखण्ड था इस समय तक अपने अतीत इतिहास के कारण पृथ्वी भर के विद्वानों के लिये कौतूहल और चमत्कार का मध्यबिन्दु तथा रहस्यपूर्ण बना हुआ था। परन्तु अब जागृत होकर अपनी पुनर्रचना कर रहा है तथा शीघ्र उद्ग्रीव यूरोप और गर्वित अमेरिका के बराबर खड़ा होने की स्पर्धा करना चाहता है। रूस उसे अपना अमोघ अस्त्र बनाने की घात में है। भविष्य भारत ही उसके अभ्युदय का केन्द्र होगा। भारत के प्रांगण में ही निकट भविष्य में एशिया और यूरोप के भाग्यों का फैसला होने वाला है।

निवेदन

मनुष्य और परमेश्वर के प्रति हम अभय हों, नीति और धर्म हमारे ऐहिलौकिक जीवन का प्राण हों, समानता और सहयोग हमारा व्यवसाय हो, प्रेम हमारा मूलमन्त्र और त्याग हमारा आदर्श हो। हम अपने आप पर सन्तुष्ट एवं सुखी हों। हमारे मस्तिष्क गुलामी से मुक्त रहें और हम सेवा और जन कल्याण के चिन्तन में जीवन व्यय करें। हे प्रभु, ऐसी ही हमें शक्ति, बुद्धि और भावना दीजिए।

शास्त्री जी और द्विवेदी जी का पत्राचार

संदर्भ

श्री चतुरसेन शास्त्री और पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के मध्य पत्राचार का यह संदर्भ दोनों महानुभावों की विनयशीलता और पारस्परिक सद्भाव का द्योतक है। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक **'हिन्दी साहित्य'** शीर्षक से मैसर्स अतरचन्द कपूर ने प्रकाशित की थी। उस पुस्तक में द्विवेदी जी ने आधुनिक उपन्यासकारों में चतुरसेन जी के कृतित्व के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा था। उसे पढ़कर आचार्य जी के भाई चन्द्रसेन ने द्विवेदी जी को शिकायत भरा एक पत्र चुपचाप लिख दिया। द्विवेदी जी ने उसका सही उत्तर भी चन्द्रसेन को भेजा। किन्तु इस घटना के बारे में शास्त्री जी को कुछ भी पता नहीं लगा। एक दिन चन्द्रसेन की मेज की दराज में ये दोनों पत्र उन्हें मिले। उन्हें पढ़कर अपने भाई के मूर्खतापूर्ण व्यवहार पर दुख हुआ और उन्होंने चन्द्रसेन को बहुत डांटा-फटकारा। पंडित द्विवेदी जी को भी क्षमा याचना का पत्र लिखा। द्विवेदी जी ने शास्त्री जी के पत्र का विनयपूर्वक उत्तर दिया। नीचे दिये गये पत्रों का यही संदर्भ है। दोनों की विनयशीलता के ये पत्र निदर्शन हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री का पत्र पं॰ द्विवेदी के नाम –

"प्रिय द्विवेदी जी,

अकस्मात् पुरानी फाइलों को देखते-भालते मेरी दृष्टि एक लम्बे पत्र पर पड़ी जो मेरे भाई चन्द्रसेन ने आपको लिखा है। उसी के साथ आपका जवाब नें आया पत्र भी नत्थी है। चन्द्रसेन पटना गये हैं, इसी से कार्यवश मुझे उनके कागज़ देखने की आवश्यकता पड़ गयी। उस पत्र को पढ़कर मैं हतबुद्धि हो गया। यदि मैं तुरन्त विषपान कर प्राणान्त भी कर दूँ तो मेरे भाई के इस अपराध का मार्जन नहीं होगा। कितना अज्ञान, कितना अविनय और कितनी कुत्सा इस पत्र में भरी है और मेरा सिर कितना नीचा इससे हुआ है, वह मैं कैसे कहूँ। मेरी इस उम्र में मेरे इस अज्ञानी भाई ने आपका अपमान करके मेरे मुँह पर स्याही लगायी और मुझे इतना रुलाया है कि जितना मैं कभी जीवन में अपने प्रिय-बिछोह पर भी नहीं रोया था। वह मूर्ख है, अज्ञानी है, दुर्भागी है, जीवन में दुखी है। उसे क्या सजा दूँ ? फिर भाई का अपराध तो मेरा ही है। अब आपके चरणों में मेरा मस्तक है। जो दण्ड उचित समझें सूचित कीजिये। क्षमा के योग्य तो यह अपराध नहीं है। कोई भी दण्ड इसके लिए कम है। आप एक श्रेष्ठ साहित्यकार और मनस्वी ही नहीं है, साधु पुरुष भी हैं। मैं आपकी लेखनी पर ही नहीं, आपके व्यक्तित्व पर भी मुग्ध हूँ। बहुत बार मैंने बहुतों से

कहा भी है। अब कैसे मुझे आप इस दोष से मुक्त करेंगे ? मैं आपकी शरण हूँ ।

आपका

चतुरसेन

द्विवेदी का उत्तर आचार्य चतुरसेन के नाम –

"आदरणीय शास्त्री जी,

प्रणाम । आपका 24-9-53 का कृपापत्र मिला। मुझे भाई चन्द्रसेन के पत्र में ऐसा कुछ तो नहीं दिखता जो आपको इतना विचलित कर सके। मैंने सचमुच ही आपकी सब रचनाएं नहीं पढ़ी हैं। अब कुछ अधिक पढ़ सका हूँ। उन्होंने ऐसी बात नहीं लिखी जिससे मेरे मन में कोई अन्यथा आशंका हो। आप अपनी महानता के कारण ही इतने विचलित हुए हैं। मैंने भाई चन्द्रसेन जी के पत्र से निश्चित रूप से अपने को लाभान्वित किया है। यह उनके और मेरे बीच की बात है। वे अपने को आपके अधिक निकट समझते हैं, तो मैं क्यों उनके इस अधिकार को अस्वीकार कर लूँ ? आप बिल्कुल भी इस बात पर ध्यान न दें। मुझे चन्द्रसेन जी के पत्र से प्रसन्नता ही हुई थी। उन्होंने ठीक काम किया था।

आशा है, प्रसन्न हैं।

आपका

हजारी प्रसाद

परिशिष्ट - II - पुस्तक सूची

1.	प्लेग विभ्राट	उपन्यास	1914
2.	शरीर तालिका	शरीर विज्ञान	1915
3.	अपत्यावतरण	चिकित्सा	1915
4.	हृदय की परख (हिन्दी-गुजराती)	उपन्यास	1918
5.	व्यभिचार	समाज, चिकित्सा	1918
6.	अन्तस्तल	हिन्दी का सर्वप्रथम गद्यकाव्य	1921
7.	सत्याग्रह और असहयोग	राजनीति	1921
8.	बनाम स्वदेश	गद्य काव्य	1925
9.	अन्तस्तल	मराठी अनुवाद	1926
10.	उत्सर्ग	नाटक	1928
11.	'चाँद' का तूफानी विशेषांक 'फाँसी अंक'		1928
12.	पथ्यापथ्य	चिकित्सा	1928
13.	'चाँद' का सामाजिक विशेषांक 'मारवाड़ी अंक'		1929
14.	हिन्दू राष्ट्र का नव निर्माण	समाज	1930
15.	२१ बनाम ३०	राजनीति	1930
16.	अक्षत	कहानी संग्रह	1931
17.	गोल सभा	राजनीति	1931
18.	हृदय की प्यास	उपन्यास	1931
19.	गदर के पत्र	अनुवाद	1932
20.	खवास का व्याह	उपन्यास	1932
21.	आरोग्य शास्त्र	स्वास्थ्य चिकित्सा	1932
22.	ब्रह्मचर्य साधन	स्वास्थ्य	1932
23.	सुखी जीवन	सामाजिक	1933
24.	अमीरों के रोग	चिकित्सा	1933
25.	कन्यादर्पण (हमारी पुत्रियाँ कैसी हों)	सामाजिक	1933
26.	अजीत सिंह	नाटक	1933
27.	रजकण (बाबर्चिन)	कहानी संग्रह	1933
28.	अमर अभिलाषा (बहते आँसू)	उपन्यास	1933
29.	आदर्श बालक	कहानी संग्रह	1933

30.	वीर बालक	कहानी संग्रह	1933
31.	भारत में ब्रिटिश राज्य	इतिहास	1933
32.	इस्लाम का विषवृक्ष (भारत में इस्लाम)	इतिहास	1933
33.	बुद्ध और बौद्धधर्म	इतिहास	1933
34.	धर्म के नाम पर	समाज	1933
35.	गाँधी की आँधी (पराजित गाँधी)	राजनीति	1934
36.	अमरसिंह	नाटक	1934
37.	आत्मदाह	उपन्यास	1934
38.	राधाकृष्ण	एकांकी	1934
39.	वेद और उनका साहित्य	धर्म	1936
40.	प्रापदण्ड	संपादित लेख	1936
41.	स्त्रियों का ओज	हिन्दी का सर्वप्रथम अध्वन्यात्मक एकांकी	1936
42.	जवाहर	गद्यकाव्य	1936
43.	राजपूत बच्चे	कहानी संग्रह	1936
44.	मेघनाद	कहानी संग्रह	1936
45.	मुग़ल बादशाहों की अनोखी बातें	कहानी संग्रह	1936
46.	सीताराम	कहानी संग्रह	1936
47.	सिंहगढ़ विजय	कहानी संग्रह	1936
48.	राजसिंह	नाटक	1936
49.	सुगम चिकित्सा	चिकित्सा	1940
50.	आरोग्य प्रवेशिका	चिकित्सा	1940
51.	नीलमणि	उपन्यास	1940
52.	श्रीराम	नाटक	1940
53.	वीरगाथा	कहानी संग्रह	1940
54.	कामकला के भेद	स्वास्थ्य	1942
55.	हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास	साहित्य	1946
56.	नवाब ननकू	कहानी संग्रह	1948
57.	वैशाली की नगरवधू (दो खण्ड)	उपन्यास	1948
58.	हिन्दू विवाह का इतिहास	धर्म	1948
59.	मरी खाल की हाय	गद्य काव्य	1949
60.	जीवन के दस भेद	सामाजिक	1949
61.	तरलाग्नि	राजनीतिक गद्य काव्य	1949
62.	हमारे लाल दिन	राजनीति	1949

63.	पाँच एकांकी	एकांकी संग्रह	1949
64.	नरमेघ	उपन्यास	1950
65.	रक्त की प्यास	उपन्यास	1951
66.	मन्दिर की नर्तकी (देवांगना)	उपन्यास	1951
67.	दो किनारे	उपन्यास	1951
68.	बापू घर में (बा और बापू)	चरित्र	1952
69.	लम्बग्रीव	कहानी संग्रह	1952
70.	लालारुख	कहानी संग्रह	1952
71.	पीरनाबालिग	कहानी संग्रह	1952
72.	अनबन	स्वास्थ्य	1952
73.	मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह	राजनीति	1952
74.	कैदी	कहानी संग्रह	1952
75.	दुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी	कहानी संग्रह	1952
76.	सोने की पत्नी	कहानी संग्रह	1952
77.	आवारागर्द	कहानी संग्रह	1952
78.	दियासलाई की डिबिया	कहानी संग्रह	1952
79.	आरोग्य पाठावली 1, 2 भाग	स्वास्थ्य	1952
80.	पगध्वनि	नाटक	1952
81.	अपराजिता	उपन्यास	1952
82.	हिन्दी साहित्य का परिचय	साहित्य	1952
83.	बुलबुल हजारदास्तां	कहानी संग्रह	1952
84.	दही की हांडी	कहानी संग्रह	1952
85.	बर्मा रोड	कहानी संग्रह	1952
86.	प्रबुद्ध	कहानी संग्रह	1953
87.	अदल-बदल	कहानी संग्रह	1953
88.	भारत के मुक्तिदाता	चरित्र	1953
89.	गाण्डीवदाह	काव्य	1953
90.	स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा	स्वास्थ्य	1953
91.	छत्रसाल	नाटक	1954
92.	सफेद कौवा	कहानी	1954
93.	राजा साहेब की पतलून	कहानी संग्रह	1954
94.	कालिन्दी के कूल पर	गद्य काव्य	1954
95.	अधेड़ावस्था का दाम्पत्य	स्वास्थ्य विज्ञान	1954
96.	वृद्धावस्था के रोग	स्वास्थ्य विज्ञान	1954

97.	आप कैसे भरपूर नींद सो सकते हैं	स्वास्थ्य	1954
98.	बच्चे कैसे पाले जायें	स्वास्थ्य	1954
99.	जीजी का रसोईघर	स्वास्थ्य	1954
100.	विवाहित जीवन का आनन्द	स्वास्थ्य	1954
101.	पत्नी प्रदर्शिका	स्वास्थ्य	1954
102.	आलमगीर	उपन्यास	1954
103.	आप अधिक सुन्दर कैसे बन सकती हैं	स्वास्थ्य	1955
104.	क्षमा	नाटक	1955
105.	सोमनाथ	उपन्यास	1955
106.	धर्मपुत्र	उपन्यास	1955
107.	मेहनत, आराम और तन्दरुस्ती	प्रौढ़ शिक्षा	1955
108.	मक्खियां	प्रौढ़ शिक्षा	1955
109.	तन्दुरुस्त रहो और बहुत दिन जिओ	प्रौढ़ शिक्षा	1955
110.	अच्छा खाओ-अच्छा पीओ	प्रौढ़ शिक्षा	1955
111.	शरीर-कपड़े-घर की सफाई	प्रौढ़ शिक्षा	1955
112.	मौसमी बुखार-मलेरिया	प्रौढ़ शिक्षा	1955
113.	साफ हवा	प्रौढ़ शिक्षा	1955
114.	प्रकाश, हवा का आवागमन	प्रौढ़ शिक्षा	1955
115.	छूत की बीमारियाँ और उनकी रोकथाम	प्रौढ़ शिक्षा	1955
116.	तमाखू का गुलाम	प्रौढ़ शिक्षा	1955
117.	स्वाभाविक चिकित्साएं	प्रौढ़ शिक्षा	1955
118.	बरबाद करने वाली दो मुसीबतें—कर्जा और शराब	प्रौढ़ शिक्षा	1955
119.	बीमारी फैलाने वाले कीड़े-मकोड़े	प्रौढ़ शिक्षा	1955
120.	नागरिक जीवन	प्रौढ़ शिक्षा	1955
121.	स्वायत्त शासन	प्रौढ़ शिक्षा	1955
122.	जिला बोर्ड	प्रौढ़ शिक्षा	1955
123.	बीमा	प्रौढ़ शिक्षा	1955
124.	मातृकला	प्रौढ़ शिक्षा	1955
125.	जुआ	प्रौढ़ शिक्षा	1955
126.	प्रबुद्ध	एकांकी रूपक	1955
127.	सत्यव्रत हरिश्चन्द्र	एकांकी रूपक	1955
128.	वयंरक्षामः दो खण्ड	उपन्यास	1955
129.	ब्रजभाषा पर मुगल प्रभाव	साहित्य	1955

130.	सभ्यता के विकास की कहानी		1955
131.	स्त्री सुबोध	गार्हस्थ कला	1955
132.	गाण्डीवदाह	काव्य	1955
133.	आदर्श भोजन	प्रौढ़-समाज शिक्षा	1956
134.	स्वास्थ्य रक्षा	प्रौढ-समाज शिक्षा	1956
135.	नीरोग जीवन	प्रौढ़-समाज शिक्षा	1956
136.	जो रूपया आपने कमाया, वह कहाँ गया	प्रौढ़-समाज शिक्षा	1956
137.	हमारा शरीर	प्रौढ़-समाज शिक्षा	1956
138.	बड़े आदमियों का बचपन	प्रौढ़-समाज शिक्षा	1956
139.	अच्छी आदतें	प्रौढ़-समाज शिक्षा	1956
140.	धर्मराज	नाटक	1956
141.	रसार्णव	भाष्य, चिकित्सा	1956
142.	भारतीय संस्कृति का इतिहास	संस्कृति	1956
143.	गोली	उपन्यास	1956
144.	मेरी प्रिय कहानियाँ	कहानी संग्रह	1957
145.	सोना और खून भाग-1	ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यास	1957
146.	सोना और खून भाग-2	ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यास	1957
147.	सोना और खून भाग-3	ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यास	1958
148.	सोमनाथ विद्यार्थी–संस्करण	ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यास	1958
149.	आभा	सामाजिक उपन्यास	1958
150.	उदयास्त	उपन्यास	1958
151.	लालपानी	उपन्यास	1958
152.	बगुला के पंख	उपन्यास	1959
153.	खग्रास	वैज्ञानिक उपन्यास	1959
154.	सह्याद्रि की चट्टानें	ऐतिहासिक उपन्यास	1959
155.	पत्थर युग के दो बुत	सामाजिक उपन्यास	1960
156.	बिना चिराग का शहर	ऐतिहासिक उपन्यास	1960
157.	सोना और खून	ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यास	1960

158.	मोती (मृत्यु उपरान्त अनुज चन्द्रसेन ने पूर्ण किया)	उपन्यास	1960
159.	हरण-निमंत्रण (रक्त की प्यास का परिवर्द्धित रुप)	उपन्यास	1960
160.	पतिता	कहानी संग्रह	1960
161.	बाहर भीतर	कहानी संग्रह	1960
162.	दुखवा मैं कासे कहूँ	कहानी संग्रह	1960
163.	धरती और आसमान	कहानी संग्रह	1961
164.	सोया हुआ शहर	कहानी संग्रह	1961
165.	कहानी खत्म हो गई	कहानी संग्रह	1961
166.	भारतीय जीवन पर एक चिड़िया की नजर	कहानी संग्रह	1961
167.	भारतीय इतिहास की झांकी	कहानी संग्रह	1961
168.	अनमोल बोल	कहानी संग्रह	1961
169.	अष्ट मंगल	संस्कृत के 8 नाटकों के एकांकीकरण	1962
170.	गांधारी	नाटक	1963
171.	ईदो (मृत्यु उपरान्त अनुज चन्द्रसेन ने पूरा किया)	उपन्यास	1963
172.	श्रीराम (श्रीराम, उत्सर्ग, जुआ)	नाटक	1963
173.	आर्य संस्कृति के पद चिन्ह	सांस्कृतिक उपन्यास	1963
174.	कीमिया	रसायन	1963
175.	बुद्ध पूर्व भारत की संस्कृति	सांस्कृतिक	1963
176.	आहार और जीवन स्वास्थ्य		1963
177.	मेरी आत्मकहानी (मृत्यु उपरान्त अनुज चन्द्रसेन ने पूर्ण की)		1963

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 94867
Date 13/3/2000
SIMLA

चतुरसेन शास्त्री हिन्दी के उन साहित्यकारों में हैं, जिनका लेखन-क्रम साहित्य की किसी एक विशिष्ट विधा में सीमित नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनी किशोर अवस्था से ही हिन्दी में कहानी और गीतिकाव्य लिखना आरम्भ कर दिया था। उसके बाद उनका साहित्य-क्षितिज विस्तृत होता गया और उपन्यास, नाटक, जीवनी, संस्मरण, इतिहास तथा धार्मिक विषयों को उन्होंने अपने लेखन में स्थान देना प्रारम्भ किया। शास्त्री जी आयुर्वेद के अध्येता ही नहीं, वरन् कुशल चिकित्सक भी थे। उन्होंने आयुर्वेद सम्बन्धी लगभग एक दर्जन ग्रंथ लिखे। व्यवसाय से वैद्य होने पर भी उन्होंने साहित्य-सर्जन में अपनी गहरी रुचि बनाये रखी। शास्त्री जी अपनी शैली के अनोखे लेखक थे, जो अपने कथा साहित्य में भी इतिहास, राजनीति, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र और युगबोध से सम्पृक्त विविध विषयों को दृष्टि में रखकर लिखते थे। इस विनिबंध में उनके समग्र साहित्य का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया गया है।

इस विनिबंध के लेखक **विजयेन्द्र स्नातक** हिन्दी के सुपरिचित समीक्षक और साहित्यकार हैं। **चतुरसेन शास्त्री** से उनका लम्बे अरसे तक निकट का सम्पर्क रहा है और उन्होंने इस विनिबंध में प्रामाणिक जानकारी के आधार पर तथ्यों को समाहित किया है।

ISBN 81-7201-713-8

Library IIAS, Shimla
H 813.2 C 392 S
00094861